भूमिका

दृश्य काव्य साहित्य का एक अत्यंत आवश्यक अंग है और इस प्रकार की रचनाओं को पढ़कर, सुनकर तथा इनका अभिनय देखकर मानव-समाज मनोरंजन के साथ साथ लाभ भी उठाता है। हिंदी-साहित्य हर प्रकार से संस्कृत-साहित्य का ऋणी है, जिसमें ढाई सहस्र वर्ष तक के प्राचीन नाट्य-ग्रंथ प्राप्त हैं। इनमें नाटक-रचना की तथा उनके अभिनय की प्रक्रिया का बड़े विस्तार से निरूपण भी किया गया है। यह सब हिंदी-नाट्य-साहित्य की निजी संपत्ति है और इन सबसे उसने लाभ भी पूरा उठाया है तथा उठा रहा है। इसके सिवा अन्य भाषाओं के आधार पर भी हिंदी-नाट्य-साहित्य-भांडार की पूर्ति का बराबर प्रयास हो रहा है पर इन सबकी अब तक सम्यक् रूप से किसी एक पुस्तक में जाँच-पड़ताल नहीं हुई है कि इस भांडार में क्या है और क्या नहीं है।

हिंदी-साहित्य के इतिहास पर कुछ ही वर्षों से इधर बहुत सी पुस्तकें निकली हैं, जिनमें बड़े-बड़े पोथे भी हैं और छोटी-छोटी पुस्तकें भी हैं पर साहित्य के एक-एक अंग को लेकर उन पर विस्तृत रूप से अनुसंधान करने तथा उनमें जो कुछ हो चुका है उस पर सुव्यवस्थित रूप से प्रकाश डालने का अब तक प्रयत्न नहीं किया गया है। नाटक, उपन्यास, पत्र-पत्रिका आदि पर इस प्रकार के यथातथ्य विस्तृत इतिहास तैयार कर लिए जाने से हिंदी-प्रेमियों को अपने बढ़ते हुए भांडार तथा उनके अभावों

का पूरा पता मिल सके और वे उनकी रक्षा तथा पूर्ति का प्रबंध कर सकें। कुछ ऐसे ही विचारों से यह 'हिंदी-नाट्य-साहित्य' तैयार किया गया है और अपने विषय की प्रथम पुस्तक होने से इसमें अनेक प्रकार की त्रुटियों का रह जाना नितांत स्वाभाविक है। यह पुस्तक बड़ी शीघ्रता मे भी लिखी गई है और अन्य अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी यथाशक्ति यही प्रयास किया गया है कि यह सभी के लिए, विद्यार्थी, साहित्य-सेवी तथा पाठकों के लिए उपादेय हो।

इस पुस्तक के लिखने में सबसे बड़ी रुकावट साधन की कमी है। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारतेंदु-काल के लेखकों की भी सभी कृतियाँ कहीं एकत्र प्राप्त नहीं है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के वृहत् पुस्तकालय मे भी जब वे सब संगृहीत नहीं हो सकी हैं तो छोटे-मोटे पुस्तकालयों से क्या आशा की जा सकती है। यदि इस समय भी इनके संग्रह करने तथा रक्षा करने का प्रयत्न न किया जायगा तो कुछ दिन बाद इनके नाम तक का न पता लगेगा। यद्यपि मैंने यथा-शक्ति यही प्रयत्न किया है कि नाटकों को पढ़कर ही उनका विवरण दूँ और अपने विचार प्रकट करूँ पर जब पुस्तकें ही न प्राप्त हो सकीं तब उनका नाम मात्र ही देकर संतोष करना पड़ा। भारतेंदु-काल के पत्र पत्रिकादि मे भी कितने छोटे-छोटे रूपक प्रकाशित हुए थे पर उन पत्र-पत्रिकादि का भी पूरा सग्रह कहीं एकत्र नहीं मिलता। यथासाध्य प्राप्त पत्रिकादि की फुटकर सख्याओं मे जिन नाटकों के एक दो दृश्य आदि मिल गए हैं उनका उक्त प्रकरण के अंत मे एक तालिका में संक्षिप्त उल्लेख कर दिया गया है। तत्कालीन अन्य

पत्रिकादि में भी इस प्रकार के प्रहसन, रूपक आदि अवश्य ही प्रकाशित हुए होंगे पर शोक है कि वे मिल न सके।

इस प्रकार समय तथा साधन की कमी के कारण इस इतिहास-ग्रंथ में ऐसा भी अवश्य ही हुआ होगा कि कुछ लब्धप्रतिष्ठ नाटककारों तथा उनकी कृतियों का उल्लेख न हो सका हो पर इसके लिए यदि वे मुझे दोषी ठहराकर मौन ग्रहण कर लेंगे तो साहित्य के इस इतिहास ही को हानि होगी। अच्छा तो यह होगा कि वे ऐसी त्रुटियों की मुझे सूचना दे दें, जिससे इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके और यह इतिहास यथाशक्ति पूर्ण होता चले।

इस 'हिंदी-नाट्य-साहित्य' में नाटकों पर जो कुछ विवेचना की गई है और जो कुछ निजी राय दी गई है वह सब स्वतंत्र रूप से मेरी ही है। यदि इसमें कुछ भूलचूक तथा दोष हों तो उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है। ऐसी राय देने में किसी के व्यक्तित्व पर आक्षेप करने का विचार न मेरे मन में कभी था

बूझ कर किसी निर्माता के प्रति पक्षपात या विद्वेष दिखलाने का लेशमात्र भी प्रयास नहीं किया गया है और न कभी ऐसा भाव रखकर एक पंक्ति भी लिखी गई है। यदि किसी को इस पुस्तक में आई हुई समीक्षा से जरा भी कष्ट पहुँचा तो मेरा यह सब अध्यवसाय ही व्यर्थ हो जायगा। आशा है कि मेरे इस शुद्ध भाव को ध्यान मे रख कर ही प्रतिष्ठित साहित्यकारगण मेरी समीक्षा पर विचार करेंगे।

इस पुस्तक में उद्धरणों की कमी अवश्य सभी को खटकेगी क्योंकि दो चार प्रसिद्ध नाटककारों को छोड़कर अन्य किसी की रचनाओं से उद्धरण नहीं दिए गए हैं। एक तो समय की कमी थी और दूसरे पुस्तक के बहुत बढ़ जाने का भय भी था। अधिकतर नाटकों के विषय मे विस्तार से भी उक्त कारणों से विवेचना नहीं की गई है और यह केवल इतिहास ग्रंथ है, शुद्ध समालोचना ग्रंथ भी नहीं है। कितने नाटककारों की कुल रचनाओं का भी उल्लेख उक्त कारणों से नहीं हो सका है पर आशा है कि इसके अन्य संस्करणों मे इन सब कमी की ओर भी ध्यान दिया जा सकेगा।

इस प्रकार यह पुस्तक तैयार कर साहित्य-प्रेमियों तथा पाठकों के सामने उपस्थित की जाती है। यदि वे इसे अपनी ही वस्तु समझ लेंगे तो मेरा सारा परिश्रम सुफल हो जायगा।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी सं० १९९१	विनीत **व्रजरत्नदास**

विषय-सूची

हिंदी-नाट्य-साहित्य

प्रथम प्रकरण

विषय-प्रवेश

किसी भाषा या उसके साहित्य के इतिहास की हृदयग्राहिता या मनोरंजकता उस भाषा-भाषी देश या जाति के राष्ट्रीय इतिहास के अनुसार ही कम और अधिक होती है। यदि उस देश या जाति के राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास प्राचीन होते हुए नेक विप्लव, परिस्थिति-परिवर्तन तथा शांति-अशांतिमय घटनाली से भरा पड़ा है तो उस भाषा-साहित्य का इतिहास अवश्य उक्त स्थितियों के प्रभाव से अत्यंत चित्ताकर्षक और अनुरंजनारी होगा। यह साहित्य के अनेक अंगों के लिए भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार समग्र साहित्य पर। यों तो अशांति में कला आदि का पुष्ट होना संभव नहीं है पर तब भी ... उत्कृष्टता को पहुँच सकते

हिंदी-नाट्य-साहित्य

प्रथम प्रकरण

विषय-प्रवेश

किसी भाषा या उसके साहित्य के इतिहास की हृदयग्राहिता तथा मनोरंजकता उस भाषा-भाषी देश या जाति के राष्ट्रीय इतिहास के अनुसार ही कम और अधिक होती है। यदि उस देश या जाति के राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास प्राचीन होते हुए अनेक विप्लव, परिस्थिति-परिवर्तन तथा शांति-अशांतिमय घटनावली से भरा पड़ा है तो उस भाषा-साहित्य का इतिहास अवश्य ही उक्त स्थितियों के प्रभाव से अत्यंत चित्ताकर्षक और अनुरंजनकारी होगा। यह साहित्य के अनेक अंगों के लिए भी उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार समग्र साहित्य पर। यों तो अशांति में साहित्य कला आदि का पुष्ट होना संभव नहीं है पर तब भी एकाध अंग हैं जो ऐसे ही समय में उत्कृष्टता को पहुँच सकते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि साहित्य का वह अंग जो शांतिमय वातावरण ही में प्रफुल्लित हो सकता है अशांतिमय राष्ट्र में विकसित ही नहीं हो पाता। गायन, वादन, अभिनय आदि को शांति ही शांति चाहिए, जब किसी प्रकार की चित्त में दुश्चिंता

न हो, समय का एकदम मूल्य न हो, तभी ये सुख से विकसित होते हैं। साहित्य के एक प्रमुख अंग नाटक को ऐसे ही वातावरण की आवश्यकता रहती है और यही कारण है कि हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में नाटकों का वास्तविक आरंभ एक शताब्दि से अधिक प्राचीन नहीं है।

हिंदी-साहित्य एक सहस्र वर्ष प्राचीन हो चुका है पर उसका ध्यान केवल अशांतिमय वातावरण के कारण नाटकों की ओर नहीं जा सका और इस ओर उसकी कृपादृष्टि उसी समय फिरी जब इसके उपयुक्त वातावरण बन चुका था। संस्कृत-साहित्य से जिस प्रकार हिंदी को रिक्थक्रम मे सभी कुछ मिला है, उसी प्रकार नाटक-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में मिला है और नाट्य-कला के लक्षण-ग्रंथ भी प्राप्त हुए पर उक्त अशांतिमय परिस्थिति के कारण उनका प्रायः कुछ भी उपयोग न हो सका। उस स्थिति का संस्कृत-साहित्य के निर्माण पर भी उसी प्रकार प्रभाव पड़ा था। इस अशांतिमय काल पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

ऐसी अवस्था में, जब कि हिंदी-नाटक-साहित्य अधिक प्राचीन नहीं है और जो कुछ है वह संस्कृत-साहित्य के आधार पर निर्मित हुआ है तब सस्कृत के नाट्य-साहित्य, नाट्य-कला आदि का सक्षिप्त परिचय हिंदी-नाट्य-साहित्य के इतिहास मे देना नितान्त आवश्यक है। बहुत से संस्कृत-नाटकों का हिंदी मे अनुवाद हो चुका है और इसलिए मूल नाटकों के निर्माताओं का सक्षिप्त परिचय भी अपेक्षित है। नाटकों के मूल तत्व, रसात्मकता, अग-प्रत्यग का विवरण भी इसीलिए आवश्यक है कि उनके ज्ञान से नाटकों की आलोचना करने तथा समझने मे

सुविधा होती है। इन विचारों से इस ग्रंथ के आरंभ में इन सबका समावेश अति संक्षेप मे कर दिया गया है।

संस्कृत नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति

नाट्य-लक्षण-ग्रंथों में प्राचीनतम प्राप्त ग्रंथ भरतकृत नाट्य-शास्त्र में लिखा मिलता है कि नाट्य-कला की उत्पत्ति दैवी है अर्थात् निर्दुःख सत्ययुग के व्यतीत हो जाने पर त्रेतायुग के आरंभ में देवताओं ने सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के पास जाकर स्तुति की कि वह मनो-रंजन की कुछ ऐसी वस्तु उत्पन्न कर दे जिससे देवतागण आनंद प्राप्तकर दुःख को भूल सके। ब्रह्माजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर नाट्य-वेद की रचना की। ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय-कला और अथर्वण से रस लेकर इसका निर्माण किया गया। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया। शिव ने तांडव तथा पार्वती ने लास्य नृत्य बतलाए और विष्णु ने चार नाट्य-शैलियाँ बतलाईं। इस प्रकार निर्मित दैवी नाट्य-वेद को इसके अनंतर पृथ्वी पर मनुष्यों के लाभार्थ भेजने का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया।

वैदिक-काल

परब्रह्म की त्रिगुणात्मिका त्रिमूर्ति द्वारा व्युत्पन्न इस नाट्यवेद की यह कथा कितनी प्राचीन है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन्हीं त्रिमूर्ति की सहायता से गंगाजी का पृथ्वी पर अव-तारण होना प्रसिद्ध है और यह अवश्य ही बहुत प्राचीन है। यह अवश्य निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चारों वेद के बाद ही इस नाट्यवेद की रचना हुई होगी, जो अब प्राप्त नहीं है तथा उस काल तक नाटक-रचना नहीं हुई थी। यह निश्चय ही है कि

ऋग्वेद में बहुत से स्थलों पर दो तथा तीन व्यक्तियों द्वारा कथोपकथन कराया गया है। कवियों द्वारा इस प्रकार के कथोपकथन का प्रयोग वैदिककाल ही में बाद को कम हो गया था पर निर्बीज नहीं हुआ था और उसका प्रयोग बराबर अब तक होता रहा है। ऋग्वेद में शृंगार किए हुए कुमारियों का नृत्य-गान कर प्रेमियों के आकर्षित करने का भी उल्लेख है। सामवेद से गानविद्या की पूर्णता का पूरा ज्ञान होता है और अथर्वण मे वादन-गायन के साथ नृत्य का उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह कि वैदिककाल में केवल धार्मिक रूप में नाट्य-दृश्यों के होने का अवश्य ही पता चलता है और यही निष्कर्ष निकलता है कि बीज रूप मे नाट्यकला वैदिक काल में मौजूद थी।

पौराणिक-काल

महाभारत मे नट शब्द का उल्लेख है पर इससे यदि नाटक के अभिनेता का अर्थ लिया जाय तो नाटक का उस समय तक प्रचार होना निश्चित हो जाय पर पाश्चात्य विद्वान संस्कृत नाटकों की इतनी प्राचीनता मानने को तैयार नहीं है और नट शब्द का केवल नृत्य करनेवाला अर्थ लेते है। हरिवंश मे जो महाभारत का उपसंहार है, रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का स्पष्ट उल्लेख है और रामजन्म तथा कौवेररंभाभिसार नाटकों का किस प्रकार और किसने किसने अभिनय किया था, इन सबका विस्तार से वर्णन दिया गया है पर हरिवंश का रचनाकाल निश्चित न होने से इससे नाटकों के इतिहास को प्राचीनता का विचार करने में कुछ सहायता नहीं मिलती। रामायण मे उत्सवों पर 'नट-नर्तकाः' के आनंद करने, नाटक तथा व्यामिश्रक का उल्लेख मिलता है पर ये

भी नाटक इतिहास मे विशेष सहायक नहीं होते। अग्नि-पुराण के ३३६–४६ तक के सर्गों मे श्रव्य तथा दृश्य काव्य की विवेचना की गई है पर इसका रचना-काल भी संदिग्ध ही है। इस प्रकार तथ्य इतना ही निकला कि वैदिक काल में जो नाट्य-कला बीज-रूप में थी वह इस काल में अंकुरित अवश्य हो उठी थी पर उसका विशेष प्रसार नहीं हुआ था।

इस काल के अनंतर तृतीय शताब्दि पूर्वेसा काल के वैयाकरणी पाणिनि ने शिलालिन् तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है और इनके डेढ़ शताब्दि बाद पतंजलि ने स्व-महाभाष्य मे 'कंस-वध किया जाता है'. 'बलि-बंधन होता है' वाक्यों का प्रयोग किया है। इनसे पाश्चात्य विद्वानों ने उस काल में नाटक के अस्तित्व का बड़े परिश्रम से पता लगाया है पर यह परिश्रम उन्हीं दिग्गजों को शोभा देता है। कालिदास का समय अब अधिकतर विद्वानों ने प्रथम शताब्दि पूर्वेसा मान लिया है और भास उनके पूर्ववर्ती थे। अश्वघोष के नाटक आज से उन्नीस शताब्दि पहिले की निश्चयपूर्वक रचना हैं। इन सबसे कई शताब्दि पहिले से नाटक की रचना अवश्य ही आरंभ हो गई होगी. जिससे वे उस पूर्णता तक पहुँच सके होंगे। अतः यह निष्कर्ष कि भारतीय नाट्य-रचना का आरंभ ढाई सहस्र वर्ष या उससे भी पहिले हो चुका था. अब विशेष विवादास्पद नहीं रह गया है।

यूनानी प्रभाव ही से भारतीय-नाटक रचना को प्रोत्साहन मिलना दिखलाने के लिए यूरोपीय विद्वानों ने भास कालिदासादि के समय को यथाशक्ति इधर लाने का निरंतर प्रयत्न किया है और करते आ रहे हैं। यदि वे भास तथा कालिदास को पूर्वेसा

की प्रथम शताब्दि में मान लें तो यूनानी प्रभाव का कथन निरर्थक सा हो जाता है और इसी कारण वे इनकी इतनी प्राचीनता मानने में हिचकने हैं। इस पर

यूनानी प्रभाव

विचार करने के पहिले ग्रीक नाटकों के इतिहास पर ध्यान देना आवश्यक है। ग्रीस में डायोनिसस देवता के उत्सवों पर वर्षारंभ में खुले हुए रंगशाला में ग्रीक वीर-गाथा तथा धार्मिक दंतकथा के आधार पर खेल होते थे, जिसमें नटगण ऊँचे जूते पहिरकर तथा बड़े बड़े चेहरे लगाकर खेल करते थे। ये उसी प्रकार के रहे होंगे जैसे यहाँ रामलीला पर अब तक बंदर, राक्षस आदि लगाते हैं। इस प्रकार की प्राचीनतम प्राप्य रचना, जिसे ट्रीलौजी कहते थे, ईसचिलस का पर्सी है, जो पूर्वेसा सन् ४७२ मे पुरस्कृत हुई थी। यूरीपिडीज़ का साइक्लौप्स इसी प्रकार की व्यंग्य-रचना थी। इसी समय सोफौकल्स हुआ, जिसकी रचना ईसचिलस से विशेष प्रशंसित हुई। ये तीनों दुःखांत रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध हुए हैं। पूर्वेसा चौथी शताब्दि के आरंभ मे यूरोपिडीज़ की मृत्यु के साथ ग्रीक दुःखांत रचनाओं की समाप्ति हो जाती है, यद्यपि इसका प्रचलन पूर्वेसा द्वितीय शताब्दि तक रहा। यूरोपिडीज़ का समसामयिक तथा प्रतिद्वंद्वी एरिस्टोफेन्स सुखांत रचना का बड़ा हिमायती था और इस प्रकार की रचनाओं का खेल ग्रामों मे घूम घूमकर किया जाता था, जिससे इन रचनाओं का नामकरण कमेडी हुआ। ये बगाल की यात्रा या रासलीला के समान थे। इसके बाद की ऐसी रचनाएँ अप्राप्त है और कभी कभी कुछ अश रोमन-सग्रहों मे मिल जाते है। ग्रीस से रोम जाने पर ऐसी जो दुःखात

वर्ष बाद यहाँ से लौट जाना पड़ा। मौर्यकाल में मिश्र, ग्रीस आदि राज्यों से भारतीय नरेशों का संबंध अवश्य था पर इतने ही आवागमन तथा संपर्क को लेकर यूरोपियन विद्वान भारतीय नाट्यकला पर ग्रीक-प्रभाव स्थापित करने की चेष्टा करते रहे हैं। मिनेंडर के समय में ग्रीस तथा रोम तक मे नाट्य-रचना तथा अभिनय का ह्रास हो चुका था, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है और यदि भास का समय पूर्वेसा प्रथम शताब्दि मान लिया जाय तब ग्रीक-प्रभाव का कथन कपोल-कल्पना मात्र रह जाता है। भास के शास्त्रानुकूल सुगठित नाटकों के बनने तथा भरत के नाट्यशास्त्र के समान ग्रंथ की रचना के विकास के लिए कम से कम तीन चार शताब्दि का समय व्यतीत हो चुका था और वह समय सिकंदर के यहाँ आने के बहुत पहिले पहुँच जाता है। यवनिका शब्द को लेकर भी ग्रीक-प्रभाव का समर्थन किया जाता है पर यह अनर्गल कथन है, क्योंकि यह एक पर्दा मात्र है, जो नेपथ्य की ओट के लिए लगाया जाता है। निष्कर्ष यही निकलता है कि भारतीय नाट्यकला मौलिक है और ग्रीक नाट्यकला के पहिले की है।

संस्कृत नाटकों तथा काव्यों के आधार आरंभ ही से प्रधानतः रामायण तथा महाभारत रहे हैं और नाटकों तथा काव्यों का विकास भी प्रायः समान रूपेण हुआ है। दोनों ही मे वर्णनात्मक अंश उक्त महापुराणों ही के समान अधिक रहते आए हैं। नाटकों मे कविता का अंश सदा प्रचुर रहा है और प्रायः वे वस्तु-व्यापार से स्वतंत्र रहे। अश्वघोष, कालिदास आदि नाटककार होते हुए भी महाकवि रहे हैं और इस कारण साहित्य की दृष्टि से नाटक के

महाकाव्य पूर्ववर्ती कहे जा सकते हैं। काव्य श्रव्य थे और उनमें क्रमशः गद्य का मिश्रण कर दृश्य बनाने का प्रयास ही नाटकों का विकास कहा जा सकता है।

संस्कृत नाटकों का इतिहास

अभी कुछ दिन हुए कि बुद्ध-चरित, सौंदरानंद आदि काव्यों के प्रसिद्ध रचेता अश्वघोष के एक नाटक शारद्वतीपुत्र प्रकरण या शारीपुत्र प्रकरण का कुछ अंश दो अन्य नाटकों के अंशों के साथ तालपत्र पर लिखा हुआ तुर्फान में प्राप्त हुआ है। अश्वघोष सुवर्णाक्षी का पुत्र तथा बौद्ध था। सौभाग्य से शारीपुत्र प्रकरण की पुष्पिका पूरी मिल गई है, जिससे वह निश्चयतः अश्वघोष कृत मान लिया गया है। साथ ही बुद्धचरित का एक श्लोक यथातथ्य इस प्रकरण में मिलता है। अन्य दो की पुष्पिकाएँ नहीं प्राप्त हुईं पर भाषा आदि के विचार से तथा एक ही हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होने से उनके भी अश्वघोष कृत होने ही की विशेष संभावना है। अश्वघोष की सभी रचना बौद्ध-धर्म के उत्थान तथा प्रसार को दृष्टि में रखते हुए हुई है। उक्त नाटकों के अंशों में भी वही बात है। इनमें एक में बुद्धि, कीर्ति तथा धृति पात्र हैं, जो मंच पर कथोपकथन करती हैं और बुद्ध भगवान आते हैं। यह प्रबोध चंद्रोदय के समान भावात्मक नाटक है। इन नाटकों में भरत के अर्थशास्त्र में दिए हुए नाटकों के नियमों का पालन किया गया है और इनसे यह भी ज्ञात होता है कि अश्वघोष के समय उनके पूर्व का नाटक साहित्य काफी मौजूद था जिन्हें आदर्श मानकर रचना की गई

अश्वघोष

थी। संभव है कि खोज कुछ समय बाद इस प्रकार के इनसे भी प्राचीनतर नाटकों का पता लगा ले। अश्वघोष कुशानवंशीय राजा कनिष्क के समय (सन् १२०–१६० के लगभग) वृद्ध भिक्षु हो चुका था। अतः उसका समय ईसवी प्रथम शताब्दि का अंत तथा द्वितीय का पूर्वार्ध था।

बीसवीं ईसवी शताब्दि के आरंभ मे दक्षिण में तेरह नाटकों की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी, जो अब निश्चित रूप से भास की मान ली गई है। यह कालिदास के पूर्ववर्ती नाटककार थे। कालिदास ने भास के साथ सौमिल तथा कवि-पुत्र का नाम भी दिया है और राजशेखर ने भास और सौमिल के साथ रामिल का भी उल्लेख किया है। ऐसे सुकवियों से आदर-प्राप्त नाटककारों की रचना का कुछ भी अंश अब तक न प्राप्त होना दुर्भाग्य मात्र है। भास के जीवन के विषय में भी अभी तक कुछ विशेष पता नहीं लगा है। इन्होंने अपनी रचना में किसी राजसिंह का उल्लेख किया है। मध्यम व्यायोग, दूत-घटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग तथा दूत-वाक्य एकांकी हैं और सभी रूपक के एक भेद व्यायोग हैं। पंचरात्रि समवकार है और तीन अंकों मे है। बाल-चरित मे पॉच अंकों मे कृष्ण-जन्म से कंस-वध तक की संक्षिप्त कथा है। प्रतिमा नाटक तथा अभिषेक नाटक की रचना मे श्रीरामचंद्र के वनवास, लंका-विजय तथा राज्याभिषेक तक की कथा ली गई है। अविमारक, प्रतिज्ञा यौगंधरायण, स्वप्नवासवदत्ता तथा चारुदत्त के कथानक कथा-साहित्य से लिए गए हैं। ये तेरहो नाटक गणपति शास्त्री के संपादन मे सन् १९१२–१५ ई० में प्रकाशित हो चुके है। हिंदी मे इन नाटकों में

भास

से तीन चार के अनुवाद हो चुके हैं। भास का समय यूरोपीय विद्वान ईसवी तृतीय शताब्दि मानते हैं अतः यह अवश्य ही इसके पहिले वर्तमान रहे होंगे। इनका समय अश्वघोष के पहिले पूर्वेसा प्रथम शताब्दि अधिक संभव है।

भास का चारुदत्त नाटक अपूर्ण है और उसके केवल चार अंक ही अब तक प्राप्त हुए हैं। इन्हीं चार अंकों से शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक के प्रथम चार अंक प्रायः लिए हुए से ज्ञात होते हैं। प्रथम दूसरे का साधन है। शूद्रक का समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ है। भास का परवर्ती होते हुए भी यह ठीक नहीं हो सका है कि शूद्रक नाम वास्तविक है या कल्पित। नाटक में यह नाटककार तथा राजा कहा गया है। संस्कृत के अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख है और इसके विषय में भिन्न-भिन्न बातें कही गई हैं। मृच्छकटिक नाटक दस अंकों में समाप्त हुआ है। यह नाटक अपनी विशेषता के कारण अद्वितीय है और इसमें राजनैतिक षड्यंत्र तथा प्रेम की कथा बड़ी सफलता से मिश्रित की गई है। शूद्रक को आंध्रदेशीय नरेश मानते हुए इसका समय पूर्वेसा तृतीय शताब्दि सिद्ध भी किया जा रहा है।

शूद्रक

रघुवंश, कुमारसंभव तथा मेघदूत के सुविख्यात महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र तीन नाटक लिखे हैं। इनका समय भी संदिग्ध है तथा इनकी जीवनी पर भी विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका है। इनके समय में मत-भेद है और एक पक्ष इन्हें विक्रमी प्रथम शताब्दि का मानता है

कालिदास

राजा था। यह श्रीहर्ष का समकालीन था। इसका केवल एक प्रहसन मत्तविलास प्राप्त हुआ है। इसमें कापालिक और देवसोमा सुरा की प्रशंसा करते हैं, बौद्ध भिक्षु तथा पागल आते हैं, बौद्ध नीति कही जाती है और इनके अनंतर प्रहसन समाप्त होता है। यही प्राचीनतम प्राप्त प्रहसन है और बाद के प्रहसनों की अश्लीलता का इसमें अभाव है। इसी समय के एक नाटककार चंद्र या चंद्रक का भी पता चलता है पर उनकी रचना के कुछ श्लोक ही मिले हैं। राजतरंगिणी से इसका कश्मीर-नरेश तुंजीन के समय होना ज्ञात होता है।

महेंद्र विक्रम

भवभूति ने अपने को कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा काश्यप गोत्र का उदुंबर ब्राह्मण और पद्मपुर का निवासी लिखा है। इनका नाम श्रीकंठ, पिता का नाम नीलकंठ तथा माता का जातुकर्णी था। यह व्याकरण तर्क तथा मीमांसा के विद्वान थे और काव्यशास्त्र के पूर्ण मर्मज्ञ थे। वेद, उपनिषद, सांख्य तथा योग के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने तीन नाटक लिखे हैं और तीनों ही कालप्रिय के उत्सव पर लिखे गए हैं। इनका समय विक्रमीय सातवीं शताब्दि का पूर्वार्ध था। इनके दो नाटक महावीर चरित तथा उत्तर रामचरित के विवरण श्री रामचद्र की कथा से लिए गए हैं। प्रथम में कथावस्तु सीता-विवाह से आरंभ होकर रावण-वध के अनंतर रामचद्र के राज्याभिषेक पर समाप्त होता है। द्वितीय में रजक के आक्षेप से सीता-निर्वासन से आरंभ होकर अश्वमेध यज्ञ के कारण लव-कुश से युद्ध होने तथा मिलन पर कथावस्तु की समाप्ति

भवभूति

होती है। मालती-माधव प्रकरण है, अतः इसकी कथा कवि-कल्पित है। पद्मावती तथा विदर्भ के मंत्रियों की संतान मालती और माधव के विवाह-चर्चा से कथा आरंभ होती है, अनेक विघ्न-बाधाएँ दूर होती हैं और अंत में विवाह होता है। नाट्यकला तथा अभिनय की दृष्टि से भवभूति उतने सफल नहीं हुए हैं, जितना वे काव्य-कौशल से हुए हैं। इनके नाटकों में उत्तर राम-चरित सर्वश्रेष्ठ है और संस्कृत-साहित्य की उज्वलतम निधियों में से है।

विशाखदत्त

मुद्राराक्षस के प्रणेता विशाखदत्त या विशाखदेव के पिता का नाम महाराज पृथु और पितामह का सामंत बटेश्वरदत्त था, जिन दो के विषय में अन्यत्र कुछ लिखा नहीं मिलता। केवल इतना ही उक्त नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात हुआ है। विशाखदत्त के दूसरे नाटक देवी-चंद्रगुप्तम् के केवल छ उद्धरण अब तक प्राप्त हुए हैं और पूरा नाटक अप्राप्य है। मुद्राराक्षस नाटक के निर्माण-काल का निश्चय अन्य आधारों से जहाँ तक हो सका है उससे वह चौथी शताब्दि ईसवी का ज्ञात होता है। मुद्राराक्षस संस्कृत-साहित्य में इस कारण अद्वितीय है कि यह केवल राजनैतिक षडयंत्रों पर निर्मित हुआ है। चाणक्य अपनी कूटनीति तथा दूरदर्शिता से अपने प्रतिद्वंद्वियों को पूर्णरूपेण परास्त कर चंद्रगुप्त को मौर्य-साम्राज्य की संस्थापना में सफल बना देता है। कथावस्तु में कहीं विशृंखलता नहीं है, चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है और इसके उपयुक्त गुणों की अच्छी योजना की गई है। नाट्यकला की दृष्टि से नाटककार को अच्छी सफलता मिली है। देवीचंद्रगुप्तम के जो अंश अब तक मिले हैं,

वे इस नाटककार के अनुरूप ही हैं और उसका कथावस्तु भी राजनैतिक षड्यंत्र के आधार पर है।

भट्ट नारायण

भट्टनारायण मृगराज लक्ष्मण के विषय में विशेष कुछ नहीं ज्ञात हुआ है। इनका समय ईसवी सातवीं शताब्दि अनुमान किया जाता है। इन्होंने वेणीसंहार नामक केवल एक नाटक लिखा है, जिसकी कथा महाभारत से ली गई है। इसका कथावस्तु द्रौपदी के दुश्शासन द्वारा बाल पकड़कर खींचे जाने पर उसके बदला लेने के शपथ से आरंभ होता है। कौरव मारे जाते हैं और द्रौपदी अपना केश दुश्शासन के रक्त से भीम द्वारा सिंचित होने पर बाँधती है और नाटक समाप्त हो जाता है। चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है, ओज की मात्रा भी है पर अभिनय की दृष्टि से अच्छा नहीं बन पड़ा है।

अन्य कविगण

नवीं शताब्दि या उसके पहिले के अन्य नाटककारों का कम पता लगा है और उनकी रचनाओं का और भी कम। कल्हण ने कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा (७२०—७४० ई०) के और कश्मीर-नरेश अवंतिवर्मा के आश्रित शिवस्वामिन् के नाटकों का उल्लेख [illegible] है। प्रथम ने केवल रामाभ्युदय नाटक लिखा है और द्वितीय ने [illegible] से नाटक, नाटिकाएँ लिखी हैं पर इनमे से एक भी [illegible] है। अनगहर्ष मातृराज के नाटक तापस-वत्सराज में [illegible] कथा दुहराई गई है, जो प्राप्त है। राजशेखर ने [illegible] रचेता मायुराज को करचुली लिखा है और [illegible] उल्लेख किया है। धनिक ने नाटककारों के [illegible] ए हैं। उसने [illegible]

तरंगदत्त और पुष्पदूषितक (विश्वनाथ का पुष्पभूषित) के उद्धरण दिए हैं। दशरूप में समुद्रमंथन नामक समवकार का उल्लेख है। अंतिम वत्सराज कृत है, जिनके अन्य रूपक त्रिपुरदाह, रुक्मिणीहरण, किरातार्जुनीय, कर्पूरचरित और हास्य-चूड़ामणि है। इनके सिवा और भी अनेक नाटक इस काल के मिले हैं, पर सबके विवरण के लिए स्थानाभाव है।

मुरारि

यह मौद्गल्य गोत्र के श्रीवर्द्धमानक तथा तंतुमती का पुत्र था। इसका समय भी विक्रमीय नवीं शताब्दि है। इसकी रचनाओं में से एक मात्र नाटक अनर्घराघव प्राप्त है और अन्य ग्रंथों में दिए उद्धरणों से।दूसरी कृतियों का भी पता चलता है। इस नाटक की कथावस्तु का आरंभ विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण को सहायतार्थ ले जाने से होता है, कथोपकथन में बहुत-सी बातों की सूचना देने पर ताड़का-बध होता है, इसके अनंतर सीता-विवाह तथा सीता-हरण का दृश्य दिखलाते लंकेश का नाश किया जाता है और राम-राज्याभिषेक से समाप्त है। भवभूति के नाटकों के अनंतर रामचरित पर लिखे गये इस नाटक में किसी प्रकार की विशेषता नहीं आ सकी पर भाषा तथा संबन्ध पर इनका पूरा अधिकार था।

राजशेखर

यह यायावरीय महाराष्ट्र क्षत्रिय वंश के थे, जिसकी पर-[illegible] से चली [illegible] गई है। यह कविगण सुरानंद, तरल तथा कविराज के वंशज अकालजलद के पौत्र और [illegible] दुर्दुक या दुर्दिक तथा शीलवती के [illegible] इन्होंने कर्पूरमंजरी, बालरामायण, [illegible] चार नाटक लिखे हैं। द्वितीय

कान्यकुब्ज-नरेश महेंद्रपाल (सं० ६५०-६६५) के लिए और तृतीय इसीके उत्तराधिकारी महीपाल के लिए लिखा गया था। चतुर्थ कलचुरि-नरेश युवराज केयूरवर्ष के लिए लिखा गया था। बालरामायण दस अंकों का महानाटक है, जिसमें कविता अधिक है। बालभारत अपूर्ण है और इसमें द्रौपदी-विवाह, द्यूत-सभा और द्रौपदी-चीर-कर्षण तक की कथा आई है। कर्पूरमंजरी कुल प्राकृत में होने से सट्टक है और इसका अनुवाद भारतेंदुजी ने किया है। इसका वृत्त वहीं दिया जायगा। विद्धशालभंजिका में चंद्रवर्मा अपनी पुत्री मृगांकावली को पुत्र रूप में लाट-नरेश विद्याधर मल्ल के राजभवन में भेजता है और उसका विवाह कुंतल-राजकुमारी कुवलयमाला से निश्चित होता है। राजा स्वप्न में तथा शालभंजिका अर्थात् चित्र में उसी मृगांकावली को देखकर मोहित होता है। उसकी रानी राजा को विद्रूप करने के लिए उसी पुरुष छद्मवेशी मृगांकावली से उसकी बहिन कहकर विवाह कराती है पर छद्म के प्रगट हो जाने पर निरुपाय होकर दोनों अर्थात् मृगांकावली और कुवलयमाला को राजा को सौंप देती है। बाल-रामायण रावण के सीता के प्रति प्रेम से आरंभ होता है, जो स्वयंवर में शिव-धनुष तोड़ना अस्वीकार कर चला जाता है। वह परशुराम से विघ्न डालने में सहायता माँगता है। सीता का विवाह उसके सामने होता है। राम-परशुराम का द्वंद्व इसके अनन्तर मिटता है। रावण का विरह दिखलाने के बाद राम-सीता-वन-वास से दशरथ की मृत्यु तक छठा अंक समाप्त होता है। तीन अंकों में सेतु-बंधन से रावण-वध तक का विवरण देकर दसवें में अयोध्या लौटकर राजगद्दी के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

नाट्यकला की दृष्टि से राजशेखर विशेष सफल नहीं हुए हैं। चरित्र-चित्रण अधिकतर शिथिल है और युद्धादि का विवरण अभिनय के उपयुक्त नहीं हुआ है। संस्कृत तथा प्राकृत दोनों ही में कविता अच्छी की है और इन भाषाओं पर इनका अच्छा अधिकार है।

राजशेखर ने अपने समकालीन भीमट के पाँच नाटकों का उल्लेख किया है, जिनमें स्वप्नदशानन अधिक प्रसिद्ध है। इसी समय आर्य क्षेमीश्वर हुए, जिनका चंडकौशिक कान्यकुब्ज के राजा महीपाल के लिए लिखा गया था। यह सत्यवीर राजा हरिश्चंद्र के उपाख्यान को लेकर लिखा गया है। इनका दूसरा नाटक नैषधानंद नलोपाख्यान पर लिखा गया है। ये दोनों नाटक अभिनय के विशेष उपयुक्त नहीं हैं। कृष्ण मिश्र का प्रबोध-चंद्रोदय नाटक भावात्मक है, जो इस काल के प्रसिद्ध नाटकों में गिना जाता है। इसकी उपयोगिता इतनी थी कि बाद में हिंदी में इसके कई अनुवाद हुए।

क्षेमीश्वर, कृष्ण मिश्र

कुंडिनपुर-निवासी महादेव तथा सुमित्रा के पुत्र जयदेव कृत प्रसन्नराघव में सीता-स्वयंवर, वनवास, हरण, युद्ध तथा मिलन तक रामायण की कथा दिखलाई गई है। इसके बाद राम-कथा को लेकर किसी अज्ञात कवि कृत छलितराम (१००० वि०), रामभद्र दीक्षित कृत जानकी-परिणय (१६०० वि०), महादेव कृत अद्भुत दर्पण आदि नाटक लिखे गए हैं। कृष्णकथा के आधार पर केरल के राजकुमार रविवर्मा का प्रद्युम्नाभ्युदय (१३०० वि०), रूपगोस्वामी का

अन्य नाटककार

विदग्धमाधव तथा ललितमाधव (१६०० वि०), शेषकृष्ण का कंस-वध (१६००वि०), त्रावंकोर के रामवर्मा का रुक्मिणी-परिणय (१७०० वि०), सामराज दीक्षित का श्रीदामाचरित आदि नाटक निर्मित हुए हैं। केरल-नरेश कुलशेखर कृत सुभद्रा-धनंजय तथा तपतीसंवरण और प्रह्लादनदेव कृत पार्थ-पराक्रम महाभारत के अन्य उपाख्यानों के आधार पर प्रणीत हुए हैं। विशालदेव विग्रहराज कृत हरकेलि नाटक, वामनभट्ट बाण कृत पार्वती-परिणय और जगज्ज्योतिमल्ल का हर-गौरि-विवाह महादेवजी की कथा के आधार पर बने हैं। सोमनाथ का ललित-विग्रहराज और जयसिंह सूरि का हम्मीर मद-मर्दन ऐतिहासिक नाटक हैं। प्रबोध-चंद्रोदय के बाद भावात्मक नाटकों में वेंकटनाथ कृत संकल्प-सूर्योदय, कर्णपूर कृत चैतन्य-चंद्रोदय तथा यशपाल कृत मोहराज-पराजय उल्लेखनीय हैं।

पूर्व-लिखित नाटकों के सिवा बहुत से अन्य नाटक, नाटिका, सट्टक आदि प्राप्त हैं पर उन सबका उल्लेख होना हिंदी-नाटकों के इतिहास में अनावश्यक है और उसके लिए स्थानाभाव भी है। इतना लिखना भी शृंखला मिलाने ही के लिए था, नहीं तो जो कुछ लिखा गया है वह किसी अवस्था में पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

दृश्य काव्य के लक्षणग्रंथ

स्वयंभू ब्रह्मा के बनाए हुए नाट्यवेद का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है पर वह अब तक अप्राप्य है और न उसका किसी बाद के लक्षण-ग्रंथों में कहीं उल्लेख मिलता है। दंतकथा भी है कि वह देवताओं के लिए निर्मित हुआ था और मर्त्यलोक पर वह भरत-

मुनि द्वारा लाया गया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र के रूप मे पृथ्वी पर अवतरित कहा जा सकता है। पाणिनी का समय तीन शताब्दि पूर्वेसा काल के पहिले निश्चित माना जाता है, जिसमें कृशाश्व तथा शिलालिन् के नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है पर इससे यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है कि पाणिनि ने नाटकों को तथा उनके अभिनय को भी देखा था। साथ ही दृश्य काव्य अर्थात् नाटक-निरूपण के आचार्य भरत ही माने गए हैं और कृशाश्व तथा शिलालिन् का आचार्य रूप मे अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। हो सकता है कि वे सूत्र नृत्य या प्राचीन स्वॉगलीला के संबंध मे रहे हों।

वेदव्यास निर्मित मानकर पुराणों को प्राचीनता साधारणतः अधिक समझ ली जाती है और इसी कारण अग्निपुराण का, जिसमे ३३७ से ३४१ तक के ५ परिच्छेद नाट्यकला पर हैं, दृश्यकाव्य के लक्षण ग्रंथों में पहिले नाम लिया जाता है। परंतु इसका समय बहुत छानबीन किए जाने पर ईसवी चौथी शताब्दि के पहिले नहीं जाता। इस कारण भरतकृत नाट्यशास्त्र से यह किसी हालत मे प्राचीनतर नहीं हो सकता क्योंकि इसमे नाट्यशास्त्र से बहुत कुछ अंश लिए हुए हैं। ३३७वें परिच्छेद मे नाटकों के भेद, प्रस्तावना, अर्थ-प्रकृति तथा पंचसधियों का और ३३८वे मे रस, स्थायीभाव, अनुभावादि, नायक-नायिका के विवरण दिए हैं। ३३९वे मे चार रीति तथा चार वृत्ति का, ३४०वें मे नृत्यकला के अंग-विक्षेप का और ३४१वे में अभिनय का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार देखा जाता है कि भरत का नाट्यशास्त्र ही वास्तव मे प्राचीनतम रीति-ग्रथ इस विपय पर प्राप्त है। जो ग्रंथ अव

विश्वनाथ के पिता चंद्रशेखर विद्वान् कवि तथा ग्रंथकर्ता थे। ये दोनों सांधिविग्रहिक महापात्र कहे जाते थे। विश्वनाथ वैष्णव तथा संस्कृत और प्राकृत के सुकवि थे।

साहित्य-दर्पण

इनका समय भी चौदहवीं शताब्दि है। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें एक साहित्य-दर्पण दो खंडों में विभक्त है। प्रथम में छ परिच्छेद और द्वितीय में चार परिच्छेद हैं। इनमें छठे परिच्छेद में नाटक पर विस्तृत विवेचना है। विश्वनाथ ने मौलिक ग्रंथकार न होते भी सरल सुगम भाषा में समग्र काव्यशास्त्र पर पूरा प्रकाश डाला है और भरत के नाट्य-शास्त्र तथा दशरूप से मिलकर संस्कृत नाट्य-शास्त्र की त्रिमूर्ति स्थापित कर दिया है।

उक्त ग्रंथों के सिवा चौदहवीं शताब्दि का एक रसार्णव सुधाकर है, जिसके लेखक शिंग भूपाल राजाचल के नरेश थे। सोलहवीं शताब्दि ईसवी के आरंभ में महाप्रभु श्री

अन्य ग्रंथ

कृष्ण चैतन्य के प्रमुख शिष्य रूपगोस्वामी ने नाटक-चंद्रिका लिखी और इसी समय के लगभग सुंदर मिश्र ने नाट्य-प्रदीप का निर्माण किया। ये सभी पूर्वोक्त ग्रंथों ही के आधार पर लिखे गए हैं और इनमें कोई विशेषता या मौलिकता नहीं है।

इस प्रकार संस्कृत ग्रंथों का विवरण समाप्त होता है और हिंदी की ओर दृष्टि जाती है। परंतु शोक है कि इसमें इस प्रकार के ग्रंथ प्रायः नहीं के समान हैं।* पहिले पहिल भारतेंदु बाबू

---

* एक सज्जन ने सदारानकृत नाटकदीपिका को प्रथम रीतिग्रंथ माना है पर वे नाम को देखकर भ्रम में पड़ गए हैं। खोज-विवरण में इसके

विश्वनाथ के पिता चंद्रशेखर विद्वान् कवि तथा ग्रंथकर्ता थे। ये दोनों सांधिविग्रहिक महापात्र कहे जाते थे। विश्वनाथ वैष्णव तथा संस्कृत और प्राकृत के सुकवि थे।

साहित्य-दर्पण

इनका समय भी चौदहवीं शताब्दि है। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें एक साहित्य-दर्पण दो खंडों मे विभक्त है। प्रथम में छ परिच्छेद और द्वितीय में चार परिच्छेद हैं। इनमे छठे परिच्छेद मे नाटक पर विस्तृत विवेचना है। विश्वनाथ ने मौलिक ग्रंथकार न होते भी सरल सुगम भाषा मे समग्र काव्यशास्त्र पर पूरा प्रकाश डाला है और भरत के नाट्य-शास्त्र तथा दशरूप से मिलकर संस्कृत नाट्य-शास्त्र की त्रिमूर्ति स्थापित कर दिया है।

उक्त ग्रंथों के सिवा चौदहवीं शताब्दि का एक रसार्णव सुधाकर है, जिसके लेखक शिंग भूपाल राजाचल के नरेश थे। सोलहवीं शताब्दि ईसवी के आरंभ में महाप्रभु श्री

अन्य ग्रंथ

कृष्ण चैतन्य के प्रमुख शिष्य रूपगोस्वामी ने नाटक-चंद्रिका लिखी और इसी समय के लगभग सुदर मिश्र ने नाट्य-प्रदीप का निर्माण किया। ये सभी पूर्वोक्त ग्रथों ही के आधार पर लिखे गए हैं और इनमें कोई विशेषता या मौलिकता नहीं है।

इस प्रकार सस्कृत ग्रथों का विवरण समाप्त होता है और हिंदी की ओर दृष्टि जाती है। परंतु शोक है कि इसमें इस प्रकार के ग्रथ प्रायः नहीं के समान हैं।* पहिले पहिल भारतेंदु बाबू

---

* एक सज्जन ने सदानन्दकृत नाटकदीपिका को प्रथम रीतिग्रथ माना है पर वे नाम को देखकर भ्रम में पड़ गए हैं। खोज-विवरण में इसके

हरिश्चंद्र ने मुद्राराक्षस का अनुवाद करते समय सं० १९३१ में ऐसे ग्रंथ-रचना की ओर ध्यान दिया और सं० १९३९ में 'नाटक' नामक निबंध समाप्त किया। इसके लिए इन्होंने संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों ही के नाट्यकला के प्राप्य ग्रंथों को आधार माना था और स्थान स्थान पर अपनी स्वतंत्र विवेचना भी करते गए हैं। आरंभ में काव्य के दो भेद तथा रूपक और उपरूपक के प्राचीन तथा नवीन भेद दिए गए हैं। इसके अनंतर नाटक-रचना का प्रस्तावना, वृत्ति आदि सहित विवरण दिया गया है। इसके अनंतर क्रमशः अभिनय, नायक, भाव-द्योतन, रस आदि का विवेचन कर नाटकों का, संस्कृत, भाषा तथा यूरोपीय का, संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। इस प्रकार इस निबंध-ग्रंथ में संक्षिप्त होते हुए भी नाट्यकला की सभी आवश्यक वस्तु आ गई है और साथ में संक्षिप्त इतिहास भी समाविष्ट हो गया है।

हिंदी रचनाएँ

इसके अनंतर श्रद्धेय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने नाट्यशास्त्र नामक निबंध सन् १९०३ ई० में लिखा, जो सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें भारतीय नाट्य-साहित्य की प्राचीनता के दिग्दर्शन के साथ रूपक, उपरूपक, पात्र-कल्पना, भाषा, रचना-चातुर्य, वृत्ति आदि का संक्षेप में विवरण दिया गया है। द्विवेदीजी ने पं० बलवंत कमलाकर द्वारा लिखित नाट्य-शास्त्र-

---

साथ नाटक-दीप का भी उल्लेख है पर ये दोनों वेदांत विषयक हैं, नाटक या नाट्यकला से इनसे कोई संबंध नहीं है। देखिए नागरी प्रचारिणी की खोज-रिपोर्ट सन १९०१ न० ४९।

नाटक महानाटक कहलाता है। प्रकरण प्रायः नाटक से एक दर्जा घटकर है। इसका वस्तु कल्पित हो सकता है, नायक मंत्री, ब्राह्मण, वैश्य हो सकते हैं और नायिका कुलीन, वेश्या या दोनों हो सकती हैं। इनके कारण प्रकारण के तीन भेद हो जाते हैं। अन्य सब बातें नाटक ही के समान होती हैं। समवकार वीर रस प्रधान दैवी रूपक है। इसके सभी पात्र देव या असुर होते हैं, नायक कई हो सकते हैं, वस्तु पौराणिक देव-असुर-संबंधी होता है और अंक तीन होते हैं। व्यायोग का वस्तु युद्धीय होता है, जो पुराणों से लिया जाता है। नायक दिव्य या राजर्षि होता है, अंक एक होता है और रस वीर होता है। शृंगार या हास वर्ज्य है। प्रहसन में कल्पित कथा रहती है और हास्य रस प्रधान होता है। पात्रगण साधारण निम्नकोटि के होते हैं। अंक, वीथी तथा भाण तीनों एकांकी होते हैं और इनमें विशेष भेद नहीं है। प्रथम में केवल एक ही अंक में कई पात्र खेल दिखलाते हैं, द्वितीय में केवल दो पात्र बातें करते हुए प्रेम-वर्णन करते तथा हँसाते हैं और तृतीय में केवल एक पात्र सभी कहानी कह जाता है। ईहामृग तथा डिम चार चार अंक के होते हैं। प्रथम में अलभ्य नायिका की प्राप्ति की इच्छा करने से उसका यह नामकरण हुआ है। नायक धीरोदात्त हो और दिव्यनारी की इच्छा करे, जो उस पर प्रेम न रखती हो। डिम में चमत्कार, जादू आदि अधिक होता है और देवता, असुर आदि पात्र होते हैं। इसमें भी नायक धीरोद्धत तथा रस शृंगार और हास्य होता है। अंतिम पाँच प्रकार के रूपकों के उदाहरण नहीं मिलते।

उपरूपकों में नाटिका, त्रोटक, प्रकरणिका, सट्टक मुख्य हैं,

अन्य का केवल नाम मात्र मिलता है, उदाहरण एक भी नहीं है। नाटिका नाटक के समान ही है पर इसमें केवल चार अंक होते हैं, स्त्री-पात्र अधिक होती हैं तथा नायिका नायक की ज्येष्ठा-प्रणयिनी के अधीन होती है। त्रोटक भी नाटक ही के समान है और अंक भी पाँच से अधिक होते हैं। इसमें नाटक से केवल नृत्य तथा प्रलाप अधिक होता है। प्रकरण के जोड़ में प्रकरणिका भी प्रायः नाटिका के समान है, केवल नायक-नायिका व्यापारी वर्ण के होते हैं। सट्टक भी नाटिका के समान होता है, केवल भेद इतना ही है कि भाषा कुल प्राकृत अर्थात् जनसाधारण की बोली में होती है। अन्य भेद अत्यंत साधारण होते हैं।

प्रत्येक रूपक के तीन आवश्यक तत्व कथावस्तु, नायक-नायकादि पात्रगण तथा रस माने गए हैं अतः संक्षेपतः उनका भी यहाँ क्रमशः विवरण दिया जाता है।

वस्तु या कथावस्तु

दृश्य काव्य के आख्यानक को वस्तु या कथावस्तु कहते हैं, जो आधिकारिक या प्रासंगिक दो प्रकार की होती है। प्रथम मूल तथा द्वितीय गौण होती है। प्रधान पात्र नायक-नायिका के संबंध की कथावस्तु, जो समग्र रचना में समान रूप चलती रहती है, वही आधिकारिक है। समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक अधिकारी कहलाता है और उसीके संबंध से यह आधिकारिक कहलाता है। प्रासंगिक कथा प्रधान कथावस्तु की शोभा-वर्द्धन के लिए तथा उसके विकास में सहायता करने के लिए प्रसंगवश प्रयुक्त की जाती है और अन्य पात्रों से संबंध रखती है। यह दो प्रकार की

वस्तु

होती है—पताका तथा प्रकरी। जो प्रासंगिक वस्तु आधिकारिक के विकास में सहायता या बाधा देते हुए बराबर, कभी कभी अंत तक, चलती रहती है, वह पताका है और प्रकरी वह है, जो साधारण तथा थोड़े समय के लिए काम में लाई जाती है और जिसका मुख्य पात्रों से कोई संबंध नहीं रहता।

कथावस्तु का उसके आधार के अनुसार तीन भेद होता है। प्रथम प्रख्यात है, जो पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान से लिया गया है, दूसरा उत्पाद्य अर्थात् केवल कवि-कल्पित होता है और तीसरा मिश्र अर्थात् मिश्रित होता है।

अर्थ-प्रकृति

कथावस्तु के विकास अर्थात् प्रधान फल की सिद्धि की ओर अग्रसर करने मे सहायक चमत्कारपूर्ण अंशों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं, जो पाँच होती हैं। पताका तथा प्रकरी का उल्लेख हो चुका है। बीज बीजवत् पहिले सूक्ष्म होते हुए भी वस्तु के विकास के साथ-साथ विस्तृत होता जाता है, इसीसे आरंभ में संक्षेप में कही हुई बात को, जो फल-सिद्धि का कारण बनती है, बीज कहते हैं। किसी कथा के समाप्त होते होते आगे के इतिवृत्त से अविच्छिन्न संबंध स्थापित कर देनेवाली बात बिंदु कहलाती है। कार्य वह है, जिसकी सिद्धि के लिए सब उपाय किए गए हों।

अवस्था

कथावस्तु के घटनाक्रम अर्थात् कार्य-शृंखला के पाँच विभाग किए गए हैं, जो अवस्थाएँ कहलाती हैं। फलप्राप्ति की जो उत्कंठा होती है, उसीको आरंभ कहते हैं। उस फल की प्राप्ति के लिए जो कुछ प्रयत्न किए जाते हैं, वही यत्न है। सफलता की संभावना या आशा हो

जाने पर प्राप्त्याशा की अवस्था पहुँच जाती है और जब यह आशा निश्चय में बदल जाती है तब नियताप्ति हो जाती है। जब फल की प्राप्ति होती है. तब फलागम कहलाता है।

पूर्वोल्लिखित पाँच अवस्थाएँ जब विकासोन्मुख रहती हैं उस समय कथावस्तु के प्रधान तथा गौण अंशों का मेल मिलाने के लिए संधियाँ होती हैं, जो अवस्थाओं के अनुसार पाँच मानी गई हैं। एक एक अवस्था की समाप्ति तक ये संधियाँ चलती हैं और अनुसारी अर्थ-प्रकृति से इनका मेल मिलाती हैं। ये मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श तथा निर्वहण या उपसंहार हैं। आरंभ अवस्था के संयोग से कुल रसों के साथ जहाँ बीज अर्थ-प्रकृति का उत्पादन होता है वह मुख संधि है। इसके बारह अंग माने गए हैं। प्रतिमुख संधि में यत्नों के कारण बीज का प्रस्फुटन होता है और घटनाक्रम आगे बढ़ता है। इसके तेरह अंग होते हैं। गर्भ संधि में बीज का विशेष विस्तार होता है और विफलता की आशंका रहते भी सफलता की आशा हो जाती है। यह अर्थप्रकृति पताका के साथ चलती है और इसके बारह अंग होते हैं। अवमर्श संधि में पूर्ण विस्तार होते हुए नियताप्ति अवस्था पहुँच जाती है पर अर्थ-प्रकृति प्रकरी के अनुसार नई विघ्न-बाधा आ पड़ती है। इसके तेरह अंग माने गए हैं। निर्वहण-संधि में फलागम अवस्था तथा कार्य अर्थ-प्रकृति के अनुसार पूर्व-कथित चारों संधियों में वर्णित प्रयोजन की सिद्धि अर्थात् फल-प्राप्ति हो जाती है। अब बीज पूर्णतया विस्तार पाकर सफल हो जाता है। इसके चौदह अंग माने गए हैं।

संधि

नाटकीय कथावस्तु के तीन और भेद किए गए हैं—सर्व-श्राव्य, अश्राव्य या स्वगत और नियतश्राव्य। जो सब पात्रों के सुनने योग्य हो वह प्रथम और जो किसी के सुनने योग्य न हो वह द्वितीय है। तृतीय अपवारित तथा जनांतिक दो प्रकार का होता है। सामने पात्र के रहते भी उसी की रहस्य की बात पर मुख फेर कर कटाक्ष करना, जिसे वह न सुने अपवारित है। कुछ पात्रों से बचाकर उँगलियों का ओट करके दो का गुप्त बात करना जनांतिक है। इन तीन के सिवाय एक आकाशभाषित होता है, जिसमें ऊपर की ओर देखकर मानों किसी अन्य पात्र की बात सुनने का नाट्य करके उसके प्रश्नों को दुहराते हुए उत्तर दिया जाता है।

पात्र गण

प्रधान पात्र नायक है, जिसे विनीत, त्यागी, कुशल, प्रिय बोलनेवाला, उच्च वंशस्थ, धीर, युवा, साहसी, बुद्धिमान, विद्वान आदि सर्व गुण संपन्न होना चाहिए। नायक चार प्रकार के होते हैं। धीर सभी होते हैं पर उदात्त, ललित, शांत तथा उद्धत होने के कारण ये चार भेद प्रकृत्या हो जाते हैं। उदात्त नायक क्षमाशील, अत्यंत दृढ़व्रत तथा गंभीर और आत्मगौरव को विनय के आवरण में रखते हुए अहंकार तथा आत्मप्रशंसा से दूर रहता है। ललित के स्वभाव में मृदुता, सुख, कलासक्ति तथा निश्चिंतता रहती है। शांत नायक क्षत्रियेतर ब्राह्मण-वणिक होते हैं और प्रकृत्या शांति-प्रिय होते हैं। उद्धत नायक शूर, असहिष्णु, उद्दंड, आत्मप्रशंसक तथा घमंडी होता है।

तीन भेद होते हैं। इनके अवस्था के अनुसार मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा या प्रौढ़ा तीन तीन भेद होते हैं। इन सबके भी प्रथम प्रेयसी या बाद की होने से दो दो भेद ज्येष्ठा या कनिष्ठा होते हैं। इस प्रकार नायिका के अठारह भेद हुए। इनमें मध्या तथा प्रगल्भा के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ये तीन तीन भेद होते हैं। इन भेदों के सिवा व्यवहार तथा दशा के अनुसार आठ भेद किए गए हैं अर्थात् स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, प्रोषित् पतिका तथा अभिसारिका। नायिका की सहायक उसकी सखी, दासी आदि होती हैं।

नायिका के सौंदर्य-वर्द्धक उपादान अलंकार कहलाते हैं। भाव, हाव तथा हेला अंगज; शोभा, कांति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, धैर्य तथा औदार्य अयत्नज और लीला, विलास, विभ्रम, विव्वोक, विच्छित्ति, किलकिंचित, कुट्टमित, मोट्टायित, ललित तथा विहृत स्वभावज होते हैं। ये कुल मिलकर बीस हुए। साहित्य दर्पण में विश्वनाथ ने इनके सिवा आठ स्वभावज अलंकार और बताए हैं, जो तपन, मुग्धता, विक्षेप, मद, कुतूहल, हसित, चकित और केलि हैं।

रस

दर्शकों के हृदय में नाटकों का अभिनय देखकर जिन रसों का उद्रेक होता है, उन्हीं का दृश्य तथा श्रव्य काव्यों में प्रमुख स्थान है। इन्हींका क्रमिक विकास ही रस-सिद्धांत है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में पहिले पहिल इस सिद्धांत को स्वीकार किया

है और उनके इस सूत्र पर 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' यह निर्मित हुआ है। यद्यपि भरत मुनि ने अपने पूर्ववर्तियों का इस संबंध में उल्लेख किया है पर उनकी प्रस्तावना 'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' सूत्र से पहिले पहिल इन्हीं ने की है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव के दो भेद आलंबन तथा उद्दीपन होते हैं। बिना किसी आधार के किसी भी रस के स्थायीभाव का दर्शकों में स्फुरण नहीं हो सकता अतः नायक नायिकादि पात्रगण आधार या आलंबन होते हैं। स्फुरण होने पर उसकी उद्दीप्ति होने के लिए उद्दीपनों की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् परिस्थितियाँ ऐसी होनी चाहिए जिससे स्थायी भावों को उत्तेजित होने का अवसर मिले। आलंबन के रहते भी यदि अनुकूल परिस्थिति न हो तो वह बीज रूप स्थायी भाव वहीं हृदय में ही मुरझा जायगा। इस प्रकार जब उद्दीपनों से वह बीज अंकुरित हो उठता है, तब आलंबन के हार्दिक भाव वाह्य आकृति से स्पष्ट प्रकट होने लगते हैं और इन्हीं आकृति-परिवर्तनों को अनुभाव कहते हैं। हार्दिक भावों के अनुगामी होने के कारण ही इनका नाम अनुभाव पड़ा है। अनुभाव कायिक, मानसिक तथा सात्त्विक तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम दो तो बहुत हो सकते हैं पर सात्त्विक आचार्यों ने आठ माने हैं, रोमांच, स्वरभंग, वैवर्ण्य अश्रु, स्वेद, वेपथु, स्तंभ तथा प्रलय। अनुभाव का एक भेद आहार्य भी माना जाता है पर उसको वेश-भूषा के कारण होने से अनुभव के अंतर्गत न मानना ही समीचीन है।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी तथा व्यभिचारी या

संचारी। स्थायी भाव मानव मस्तिष्क मे सदा बने रहते हैं, पर वे अधिकतर शांत रहते हैं, केवल कारणवश उत्तेजना मिलने पर वे प्रकट हो उठते हैं। श्रव्य काव्यों में केवल वाणी से और दृश्य में वाणी तथा अभिनय दोनों से ये उत्तेजित होते हैं। ये भाव स्थायी होने के कारण अन्य साधारण भावों द्वारा, चाहे वे उनके अनुकूल सजातीय हों या विरोधी विजातीय हों, कभी आच्छादित नहीं होते। ये स्थायी भाव नाट्यशास्त्र मे आठ माने गए हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। नवें शम के विषय मे दशरूप मे 'शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' लिखा है, पर यह कथन सारहीन है। इन स्थायी भावों से क्रमशः शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत रसों की निष्पत्ति होती हैं। इन रसों के सिवा प्रेय, वात्सल्य, कौल्य, कार्पण्य तथा भक्ति को भी कुछ आचार्यों ने रस माना है।

व्यभिचारी भाव वे हैं, जो तरंग के समान ऊपर ही ऊपर आते और निकल जाते हैं, उनका प्रभाव विशेष समय तक नहीं रहता। ये स्थायी भावों को विशेष स्पष्ट या पुष्ट मात्र कर देते हैं और कुछ समय मे यह कार्य पूर्ण कर हट जाते हैं। इस कारण ये सचारी भी कहे जाते हैं। ये तेंतीस बतलाए गए हैं जैसे निर्वेद, ग्लानि, शंका, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य आदि। ये भावगण स्थायी भावों के अनुकूल तथा विरोधी भी होते हैं।

इस प्रकार इन विभावों, भावों तथा अनुभावो के संयोग से रस का परिपाक होता है पर इस रस का आनंद किस प्रकार मिलता है, इसके विषय मे चार मत-भेद हैं। ये लोल्लट का उत्पत्तिवाद, शङ्कुक का अनुमितिवाद, भट्ट नायक का भुक्तिवाद

और अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद है। उत्पत्तिवाद में यह कहा जाता है कि अभिनेता के सुंदर अभिनय को देखकर दर्शकगण उसीमें वास्तविक पात्रों के रस की प्रतीति कर आनंदित होते हैं, स्वतः उनमें रस का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अनुमितिवाद कहता है कि अभिनेता के कुशल अभिनय को देखकर दर्शकगण वास्तविक पात्रों के भावानुभाव संयुक्त रस का स्वतः अनुमान कर आनंदित होते हैं और अभिनेताओं पर उन सब का कोई असर नहीं होता। अनुकरण-रूपो रसः का प्रादुर्भाव दर्शकों ही में होता है पर अनुमान द्वारा। भुक्तिवाद में कहा गया है कि रस अनुमान का विषय नहीं है और न कोरी प्रतीति मात्र है। इसमें शब्दों के तीन कार्य अभिधा, भावना तथा भोगीकृति माना गया है। प्रथम से साधारण अर्थ का ज्ञान होता है, द्वितीय से नटों द्वारा दिख-लाए गए वास्तविक पात्रगण का वैयक्तिक ज्ञान (सीतात्व) मिटाकर साधारण ज्ञान (सुंदर सती स्त्रीत्व) रह जाता है और तृतीय से दर्शकगण को उसका पूर्ण आनंद ब्रह्मानंद के समान ही मिलता है। इस आनंद की अनुभूति सहृदय दर्शकों को ऐसी होती है कि वे सब कुछ भूलकर उसी में कुछ समय के लिए तन्मय हो जाते हैं। इनका रसास्वाद परब्रह्म-साक्षात्कार की श्रेणी का है। अभिव्यक्तिवाद उक्त तीन कार्यों मे से अंतिम दो को प्रमाण के अभाव मे नहीं मानता। सभी सहृदय दर्शकों के मस्तिष्क में स्थायी भाव स्वतः वर्तमान रहते हैं, जो नाटक को देखकर विभा-वानुभावादि द्वारा उत्तेजित होते हैं और रसत्व को प्राप्त हो जाते हैं। यह रसानुभूति लौकिक मात्र नहीं रह जाती प्रत्युत् अलौ-किक हो जाती है। अभिनव गुप्त के इस अभिव्यक्तिवाद को

तथा संलाप हैं। प्रथम में एक पात्र दूसरे को युद्ध के लिए ललकारता है, द्वितीय में दैवयोग या षड्यंत्र द्वारा शत्रु में भेद डाला जाता है, तृतीय में जिस कार्य के लिए पात्र आता है वह न कर दूसरा कार्य करता है और चौथे में गंभीर वार्तालाप किया जाता है।

आरभटी वृत्ति रौद्र, भयानक तथा बीभत्स के अनुकूल होती है और इसके व्यापार में जादू, संग्राम, क्रोध, उद्दंडता आदि अधिक रहता है। यह चार प्रकार की होती है—संक्षिप्ति, वस्तूत्थापन, संफेट तथा अवपात। प्रथम में कृत्रिम उपायों से बड़े कार्य को संक्षेप में तुरंत कर लिया जाता है पर अन्य मत यह भी है कि प्रधान पात्र का एकाएक वास्तविक परिवर्तन या हृदयस्थ भाव का परिवर्तन भी संक्षिप्ति कहलाता है। मंत्र-बल से कुछ कार्य कर डालना द्वितीय है तथा क्रुद्ध व्यक्तियों का युद्ध करना तृतीय है। अवपात में उपद्रव, भय-युक्त आना जाना दिखलाया जाता है।

भारती वृत्ति में वाग्व्यापार मात्र होता है और वह संस्कृत भाषा ही में, प्राकृतों में नहीं, होता है। इस कारण केवल पुरुषों ही द्वारा यह प्रयुक्त होती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों के तथा अन्य मत से सभी रसों के यह वृत्ति अनुकूल है। इसके प्ररोचना, आमुख, वीथी तथा प्रहसन चार भेद होते हैं। प्रथम दो पूर्वरंग के अंतर्गत आ जाते हैं और अंतिम दो नाटक के भेद मात्र हैं, जिनका यथावसर दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए प्रयोग होता है।

भाषा के लिए संस्कृत आचार्यों ने बहुत से नियम बनाए हैं पर इन सबको देखने से यही स्पष्टतः निष्कर्ष निकलता है कि भाषा पात्रों के स्वभावानुकूल होनी चाहिए, जैसे एक विद्वान पात्र

की भाषा एक निपढ़ पात्र की भाषा से भिन्न होनी चाहिए। यही नियम सार्थक भी है पर अब कुछ ऐसी भी प्रथा चली है कि संपूर्ण नाटक में एक सी भाषा हो। केवल पठन पाठन में यह नियम-पालन चाहे न खटके पर अभिनय में यह अवश्य कर्ण-कटु हो जायगा। संस्कृत नाटकों में शुद्ध संस्कृत तथा अनेक प्रकार की प्राकृत आदि भाषाओं के रहने से पात्रों की श्रेणियों के अनुसार किस किस भाषा का प्रयोग कब कैसे किया जाय इसके लिए बहुत से नियम बन सके हैं पर हिंदी नाटकों के लिए वे सब नियम लागू नहीं हो सकते। इसमें केवल अधिक संस्कृत-मिश्रित, सरल, गंभीर पात्र तथा अवसर के अनुसार भाषा में भेद किया जा सकता है। अन्य प्रांतीय पात्रों द्वारा उन्हीं की भाषा का प्रयोग भी प्रस्तावित हुआ था पर वह व्यर्थ है। भारतेंदुजी ने प्रेम योगिनी में मराठी भाषा का इसी कारण कुछ प्रयोग किया था पर हिंदी-भाषी के लिए उतने ही मात्र के अनुवाद की आवश्यकता पड़ गई। भाषा समग्र नाटक की एक ही होनी चाहिए।

पूर्वरंग तथा प्रस्तावना

नाटक का अभिनय आरंभ करने के पहिले उसके कुशल-पूर्वक संपादित हो जाने के लिए जो कुछ कृत्य किए जाने का शास्त्रीय विधान है, उसीको पूर्वरंग कहते हैं। नगाड़ा बजाकर अभिनय आरंभ की सूचना देना, गायक-वादक का आना, गायन तथा वादन का होना क्रमशः प्रत्याहार, अवतारणा, आरंभ और आश्रवण कहलाते हैं। इसके अनंतर सूत्रधार मंगल कलश तथा इंद्र-ध्वज के साथ रंगमंच पर फूल बिखेरता हुआ आता है और

मार्जन कर स्तुतिपाठ करता हुआ इंद्र-ध्वज को अभिवादन करता है। यहाँ तक नांदी समाप्त हो जाती है। इसके बाद रंगद्वार कृत्य आरंभ होता है। सूत्रधार या स्थापक आकर मंगल के श्लोक पढ़ता है और इंद्र-ध्वज का पुनः अभिवादन करता है। प्रस्तावना में पारिपार्श्वक, विदूषक या नट से बातचीत कर नाटक तथा नाटककार का परिचय देकर नाटक आरंभ कराता है।

पूर्वरंग के कृत्य विशेषतः अभिनेताओं के अपने अपने कुशल मंगल के लिए ही होते हैं अतः नाटककारों ने प्राचीनकाल से उस ओर ध्यान नहीं दिया और उक्त कृत्य को अभिनेताओं को निज रुचि-अनुसार करने की स्वतंत्रता दे दी। प्राचीनतम नाटककारों ने 'नांद्यंते सूत्रधारः' करके अपना अपना नाटक आरंभ किया है। भरत मुनि ने इन सब का विस्तार-पूर्वक विवरण केवल इसलिए दिया है कि अभिनेतागण भी अपने कृत्य को समझ लें और यथानुसार करें। यही कारण है कि बाद के लक्षणकारों ने इसपर विशेष नहीं लिखा है।

नांदी या मंगल-पाठ के श्लोक नाटककार अपने नाटक की कुशलपूर्वक समाप्ति के अर्थ देता है और इसकी संख्या आठ या बारह पदों या चरणों की होनी चाहिए। यह नियम भी सर्वत्र नहीं माना हुआ ज्ञात होता है। कहीं कहीं केवल एक पद अर्थात् चार चरण ही मिलते हैं। यह सब जो अब तक लिखा गया है, मुख्यतः धार्मिक-विचार से होता आया है पर अब धार्मिक-विचारों की कमी के साथ इन सब का भी अभाव बढ़ता जा रहा है।

प्रस्तावना पाँच प्रकार की है—कथोद्घात, प्रवर्तक, उद्घात्यक, प्रयोगातिशय तथा अवगलित। सूत्रधार के वचन के अर्थ या भाव

को ग्रहण कर जहाँ पात्र का प्रवेश हो वह प्रथम और जहाँ उसके रहस्य की बात के आश्रय से पात्र-प्रवेश हो वह द्वितीय है। तृतीय में सूत्रधार की बात का दूसरी प्रकार से अर्थ लगाकर पात्र रंग-मंच पर आता है। चौथे में स्पष्ट ही पात्र के आगमन का उल्लेख किया जाता है और पाँचवें में एक प्रयोग में किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना द्वारा पात्र-प्रवेश की सूचना दी जाती है। प्रस्तावना का प्रयोग भी अब क्रमशः उठता जा रहा है। भारतेंदुजी के समय ही से प्रस्तावना की कमी होती जा रही है और अब तो कभी कभी नाटकों में इसके दर्शन मिलते हैं।

रंगशाला या प्रेक्षागृह

प्राचीनकाल ही से नाटकों के अभिनय होते आ रहे हैं और ये नाटक इसी कार्य के लिए लिखे जाते थे। यह दूसरी बात है कि ये नाटक पढ़ने में भी आनंद देते हैं और केवल इसी कारण उन्हें श्रव्य मान लिया जाय, दृश्य नहीं, अनर्गल कथन मात्र है। कितने प्राचीन नाटकों में अभिनय होने या किए जाने का उल्लेख है। छोटा नागपूर की रामगढ़ पहाड़ी में दो गुफाएँ मिली हैं, जिनमें विक्रमीय संवत् के दो शताब्दि पहिले का बना हुआ प्रेक्षा-गृह मिला है, जिसे किसी सुतनुका देवदासी ने बनवाया था। दूसरी गुफा में अशोक के समय की लिपि का एक लेख भी मिला है। नाट्यशास्त्र में गुफा रूप में प्रेक्षागृह के बनने का भी उल्लेख है। इसके अनुसार प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। प्रथम दो जनसाधारण के लिए तथा अंतिम ऐश्वर्यशालियों के निजी मनोरंजन के लिए बनते थे।

साधारणतः मध्यम ही काम में आता था, जो ६४ हाथ लंबा और ३२ हाथ चौड़ा होता था। एक हाथ डेढ़ फुट के बराबर होता है।

इन प्रेक्षागृहों के दो मुख्य भाग होते थे, एक अभिनय का स्थान अर्थात् रंगमंच तथा दूसरा प्रेक्षकों के बैठने का स्थान। रंगमंच के खंभे तथा दीवाल चित्रकारी आदि से सुसज्जित किए जाते थे और शब्द गूँजने के विचार से तथा आकाश, स्वर्ग आदि का दृश्य दिखलाने की सुविधा के विचार से दो खंड के होते थे। इसीमें देवता के पूजन का स्थान, नेपथ्य गृह आदि भी बनाए जाते थे। प्रेक्षकों अर्थात् दर्शकों के स्थान पहिले चार वर्ण के अनुसार चार भाग में रहते थे और एक स्थान विदेशी आगंतुकों के लिए भी होता था। स्थान की कमी होने पर दूसरा खंड भी बन सकता था। नाट्यशास्त्र का यह विवरण इतना पूर्ण है कि आजकल के बने हुए अच्छे थियेटर गृहों का वर्णन सा मालूम होता है।

भिन्न भिन्न दृश्यों के दिखलाने के लिए पर्दों का भी प्रयोग होता था। किस रस के लिए किस रंग का पर्दा होना चाहिए, किस पर कैसा दृश्य बना हो, इसका विवरण दिया गया है। यवनिका को लेकर यूनानी प्रभाव ही तक नहीं प्रत्युत् यूनानी नाटकों ही के आधार पर भारतीय नाटक-रचना की कल्पना की गई है। वास्तव मे यह ज्ञात होता है कि यह पर्दा यूनानी वस्त्र से बनता था और इस कारण यवनिका कहा जाने लगा। यह पट रंगमंच तथा नेपथ्य के बीच पड़ा रहता था।

सफल अभिनय के लिए अभिनेताओं का चुनाव, उनकी वेश-भूषा और अभिनय करने के ढंग आदि सभी आवश्यक हैं पर उन सबका विवरण या विवेचन इस ग्रंथ के लिये आवश्यक नहीं है।

द्वितीय प्रकरण

काल-विभाग

साहित्य स्वदेश की जनता की परिस्थिति के अनुकूल, समय के अनुसार, चित्तवृत्तियों का समुदाय रूप में प्रतिबिंब ही होता है और परिस्थितियों के परिवर्तन से चित्तवृत्तियों के परिवर्तित हो जाने पर साहित्य पर भी उसका तुरंत प्रभाव पड़ जाता है। इस कारण साहित्य के इतिहास-लेखकों का उसके आदि से अंत तक की इन चित्तवृत्तियों पर दृष्टि रखते हुए तथा साहित्य से उनका सामंजस्य दिखलाते हुए ही इतिहास लिखना प्रधान ध्येय होना चाहिए और ऐसा न करने से इतिहास सार्थक नहीं हो सकता। ये परिस्थितियाँ राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक ही प्रधानतः होती हैं और अन्य परिस्थितियाँ भी प्रायः इन्हीं में से किसी के अंतर्गत आ जाती हैं। इन्हीं कारणों से ऐसा भी होता है कि साहित्य के कितने अंग किसी काल-विशेष में विशेष परिपुष्ट हो जाते हैं और किसी काल में उनकी ओर साहित्यकारों का ध्यान भी नहीं जाता। हिंदी-साहित्य ही में उसके इतिहास के काल-विभाग ही इसके परिचायक हैं। आदि-मध्य आदि को वीर गाथा, भक्ति रीति आदि काल कहना परिस्थिति के अनुसार जनता की चित्त-

विषय प्रवेश

वृत्ति के परिवर्तनों ही की सूचना देता है। इसी चित्तवृत्ति के कारण सोहित्य का गद्य भाग आधुनिक काल के पहिले नाममात्र को मिलता है और वह भी केवल एक विषय धर्म को लेकर ही बना है। साहित्य की रचना का आधिक्य राष्ट्र के शांतिमय वातावरण की सूचना उसी प्रकार देता है, जिस प्रकार उसकी कमी अशांति की ओर इंगित करती है। इसीलिए जब अशांतिमय भारत का एकाएक इंगलैंड के आंतरिक शांतिमय वातावरण में प्रवर्द्धित साहित्य से परिचय हुआ तब उसकी अपने साहित्य के अनेक अंगों की कमी तथा अभाव की ओर दृष्टि गई और उसने अँग्रेजी साहित्य के उन पुष्ट अंगों को देखकर अपनी कमी को पूरा करने का प्रयास आरंभ किया।

हिंदी-साहित्य का इतिहास प्रायः एक सहस्र वर्ष से पहिले से आरंभ होता है और उसका आदि काल, जो प्रायः चौदहवीं शताब्दि के मध्य तक आता है, वीर-गाथा-काल भी कहलाता है। इस काल की बहुत कम रचना प्राप्त है और समय द्वारा नष्ट होने के सिवा भी इस कमी के दो स्पष्ट कारण हैं। सम्राट हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर अनेक छोटे छोटे राज्य उत्तरापथ में स्थापित हो चुके थे और उनमें आपस के विद्वेष तथा फूट से निरंतर युद्ध चलता रहा था। इसी बीच मे मुसलमान आक्रमणकारी भी यहाँ आ पहुँचे और खूब विप्लव मचा, जिससे उक्त अशांत-काल मे साहित्य-रचना की ओर कम रुचि हो सकी। अपने अपने वीर नरेशों की वीर-गाथाएँ उनके आश्रित चारणगण लिख गए हैं, जो बहुत कुछ कमी-बेशी के साथ अब प्राप्त हैं। दूसरा कारण यह भी था कि विद्वान् साहित्यिक संस्कृत ही

की ओर झुके हुए थे और उनकी हिंदी की ओर उतनी ममता भी न थी। यही कारण है कि उस काल में संस्कृत-प्राकृत में भी जितना कुछ साहित्य बन सका था उतना भी हिंदी में नहीं बन सका।

इसके अनंतर मुसल्मानों का भारत में पैर जम गया और एक छोटा-मोटा साम्राज्य तथा कई छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित हो गए। इन सबको उलट-पुलट कर प्रबल मुगल-साम्राज्य स्थापित हुआ, जो प्रायः हिंदी-साहित्य के मध्य-काल के साथ साथ समाप्त हुआ। इस काल के पूर्व भाग में भारत का प्रबल आक्रमणकारियों से घरेलू द्वेष, फूट के कारण अपनी रक्षा न कर सकने पर और स्वतंत्रता के अपहृत होने की स्मृति बनी रहने से तथा सर्व आशामय ईश्वर की कृपादृष्टि की ओर आशा लगाए रहने से भक्तिपूर्ण रचनाएँ बहुत हुईं और खूब हुईं। उत्तर भाग में मुगल-साम्राज्य के अंतर्गत कुछ शांति स्थापित होने, दासता की आदत पड़ जाने तथा विलास और मनोरंजन-प्रिय होने से, कविगण या साहित्यकारों ने अपने अपने आश्रय-दाताओं के आनंद-विलास और मनोरंजन के लिए रीति-ग्रंथों की आड में खूब सामग्री जुटाई। कभी कभी किसी हिंदू वीर नरेश के स्वतंत्रता के लिए प्रयास कर बैठने पर कुछ उद्दंड कविता भी इस काल में दिखलाई पड जाती है पर वह नाम मात्र को है। कविता के सिवा इस काल में कुछ गद्य-ग्रंथ भी लिखे गए हैं पर वह अधिकतर टीका हैं या धर्मकथा मात्र हैं। किसी भी गंभीर या गहन विषय पर एक भी रचना नहीं मिलती, क्योंकि उसके लिए न परिस्थितियाँ ही अनुकूल थीं और न जनता ही की उस ओर रुचि बढ़ सकी। वे तो अनेक प्रकार के दल बाँधे हुए मनुष्य-रूपी हिंस्र जंतुओं

से अपनी रक्षा ही में व्यग्र थे। यही दशा प्रायः भारत की सभी भाषाओं की समझनी चाहिए।

यूरोपीय जातियों का भारत मे आना-जाना अकबर के समय ही से आरंभ हो गया था और ये दक्षिणापथ के दोनों समुद्री तटों पर क्रमशः स्थान प्राप्त कर बसने लगे थे। इन्हीं में अंग्रेज भी थे, जिन्होंने अन्य सब जातियों को निकालकर अपना प्रभुत्व भारत में जमा लिया। सं० १८१४ वि० मे प्लासी युद्ध में बंगाल के मुसल्मान शासक को परास्त कर तथा आठ वर्ष बाद मुगल-सम्राट् से बंगाल की दीवानी प्राप्त कर अंग्रेजों ने उक्त प्रांत पर अधिकार जमा लिया और क्रमशः एक शताब्दि के भीतर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हो गया। इस प्रकार यूरोपीय विचारधारा का भारतीय विचारधारा में संमिश्रण होना पहिले पहिल बंबई तथा मंदराज में आरंभ हुआ और बंगाल होते हुए वहाँ से प्रायः एक शताब्दि बाद बिहार लाँघकर संयुक्त प्रदेश में आ पहुँचा। यही कारण है कि बंगला पर यूरोपीय प्रभाव के प्रायः व्याप्त हो जाने पर वह हिंदी तक पहिले उसी के द्वारा पहुँचा था।

जनता से गौरांग शासकों के विचार-विनिमय के लिए एक माध्यम की आवश्यकता पड़ी, जो हिंदी-भाषी प्रांत में हिंदी या अंग्रेजी मे से एक हो सकती थी। आज भी जहाँ चार पाँच सैकड़े से अधिक साक्षर जनता नहीं है, उसके लिए उस समय अँग्रेजी असभव था अतः अंग्रेजों को स्वार्थ को दृष्टि से ही सही हिंदी सीखना आवश्यक हो गया। अवश्य ही इन लोगों ने एक नई भाषा का द्वंद्व और नहीं बढ़ाया। हिंदी मे शिक्षा के पाठ्य-क्रम के लिए गद्य-ग्रंथों का अभाव था इस कारण इनकी रचना की

ओर भी इन लोगों ने प्रयास किया। कलकत्ते के फोर्ट विलिअम कॉलेज की तत्वावधानता में बहुत से हिंदी-उर्दू ग्रंथ लिखाए गए। इसी समय कुछ गद्य ग्रंथ अन्यत्र भी लिखे गए पर हिंदी में यह सिलसिला आगे नहीं चला, क्योंकि अंग्रेजों का यह स्वतंत्र प्रयास था और हिंदी पर यूरोपीय विचारधारा का प्रभाव इसके बहुत दिनों बाद पड़ा था। उसी प्रभाव के कारण विक्रमीय बीसवीं शताब्दि के आरंभ के साथ हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में राजा लक्ष्मण-सिंह और राजा शिवप्रसाद का पदार्पण हुआ, जिनमें प्रथम ने अपनी मातृभाषा का शुद्ध रूप और द्वितीय ने बाद को उसका विकृत रूप ही अपनाया। दासता की शृंखला में जकड़े हुए हिंदू परमुखापेक्षी हो उठे हैं और यही कारण है कि अपनी शुद्ध से शुद्ध वस्तु को दूसरे को प्रसन्न करने के लिए त्यागने, गँदला करने या रूपांतरित करने को सदा तैयार रहते हैं। उनमें दृढ़ता का अभाव आ गया है और वह अभी, नहीं कहा जा सकता कि कब तक बना हुआ है। उक्त दोनों महानुभावों के कुछ बाद ही भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने उदय होकर उन प्रस्तावित भाषा के दो रूपों में से एक को दृढ़ता के साथ अपनाया और स्वयं तथा अनेक मित्रों को उत्साहित कर अच्छा खासा साहित्य तैयार कर उसे हर तरह से पुष्ट कर दिया। यही कारण है कि वह आधुनिक हिंदी के जन्मदाता कहलाने लगे।

भारतेंदु जी के समय तक पद्य-भाग का ही जोर था और उसमें भी वही रीतिकाल की शृंगारिक कविता ही का प्राचुर्य था। जनता में नए प्रभाव के कारण जो रुचि-परिवर्तन हो गया था, उसके अनुकूल कविता का अभाव था और साथ ही अनेक

विषयों पर गद्य-ग्रंथों का भी अभाव सभी को खटक रहा था। साहित्यधारा एक ओर और जनता की विचारधारा दूसरी ओर जा रही थी। राजनैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, नाटक-उपन्यासादि अनेक विषय-संबंधिनी रचनाओं की आवश्यकता सभी समझ रहे थे और बंगभाषा में ऐसी रचनाओं का अत्य-धिक आदर इसका समर्थन कर रहा था। इन परिस्थितियों को समझकर भारतेंदुजी ने 'साहित्य को मोड़कर हमारे जीवन के साथ लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर कर दिया।'

नाटक प्रधानतः गद्य-ग्रंथ है और यह दिखलाया जा चुका है कि गद्य-ग्रंथों की सुशृंखलित रूप में रचना का आरंभ हुए अभी पूरी एक शताब्दि भी नहीं बीती है तब नाटक-साहित्य को इससे अधिक प्राचीन-काल में खोजना व्यर्थ है। इतने पर भी खोज से जो नाटक नामधारी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और जिनका संक्षिप्त विवरण भी आगे दिया गया है, उन्हें देखने ही से इसकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत के नाटक-साहित्य की शृखला भी पूर्वोक्त अशांतिमय-काल में प्रायः टूट सी गई और उसमें भी पहिले के समय के नाटकों से एक भी नाटक नहीं बन सके।

नाटकों की कमी का एक कारण अभिनयशालाओं का भी अभाव है पर वह राष्ट्र की शांति तथा अशांति ही पर निर्भर रहता है। प्राचीन-काल के प्रेक्षागृह नष्ट हो चुके थे और नए काल के नए प्रेक्षागृहों अर्थात् थिएटर-घरों के बनने का समय बहुत प्राचीन नहीं है। बंबई के थिएटर-घरों के खुलने के बहुत

पहिले, कहा जाता है कि प्लासी युद्ध के भी पहिले, कलकत्ते में एक थिएटर बन चुका था। एक दूसरा सन् १७९५ ई० में खुला, जिसका विज्ञापन था कि गवर्नर-जेनरल की सम्मति से मि० लेफेडफेर थिएटर बंगला चाल पर सजाया जायगा। जल्द ही वहाँ 'डिसगाइज' नाम का एक नाटक होगा जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही अभिनय करेंगे। अन्य थिएटरों के सिवा सन् १८१२ में एथीनियम और इसके दूसरे वर्ष चौरंगी थिएटर खुले। इनके कारण बंगला भाषा में नाटक लिखने का प्रचार हिंदी से बहुत पहिले हो गया और जब भारतेंदु जी कलकत्ते गए तब बंगला-साहित्य के परिचय से बहुत कुछ अनुभव उठाकर वह लौटे और उससे हिंदी-साहित्य की रचना में बहुत कुछ लाभ उठाया।

हिंदी को उर्दू-साहित्य से इस विषय में कुछ भी लाभ न पहुँच सका, क्योंकि उसका प्रथम नाटक, यदि वह शब्द उसके उपयुक्त कुछ देर के लिए मान भी लिया जाय तो, इंदर-सभा है, जिसे वाजिदअली शाह के विनोद के लिए अमानत ने लिखा था। इसकी साहित्यिकों में क्या कदर थी इसका इसीसे पता चल जाता है कि भारतेंदु जी ने इसीके वजन पर बंदर-सभा लिख डाला था। उर्दू को फारसी से नाट्य-संपत्ति मिल ही न सकी क्योंकि वह कला इस्लाम धर्म के विरुद्ध थी। इंदर-सभा के बाद पारसी कंपनियों के खुलने पर उर्दू में बहुत से थिएट्रिकल लिखे गए और हिंदी के बहिष्करण के नाते नाटक, अंक, दृश्य आदि के बदले ड्रामा, एक्ट, सीन आदि शब्द प्रयुक्त किए जाने लगे। ये तमाशे थे और इनसे साहित्यिक नाटकों को कुछ भी प्रोत्साहन न मिल सका।

इस प्रकार हर एक दृष्टि से विचार कर लेने पर यही निश्चय होता है कि हिंदी के नाटक-साहित्य के, प्रत्युत् इसीके समान पत्र-पत्रिकादि यावत् गद्य-भाग के, स्वतंत्र इतिहास का तीन ही काल-विभाग किया जा सकता है और वे पूर्व-भारतेंदु-काल, भारतेंदु-काल और वर्तमान काल ही हो सकते हैं। इनका समय इस प्रकार रखा गया है—

पूर्व-भारतेंदु-काल—?—१९०० वि०
भारतेंदु-काल—१९०१—१९५० वि०
वर्तमान काल—१९५०—? वि०

तृतीय प्रकरण

पूर्व भारतेंदु-काल

हिंदी-साहित्य का आदिकाल या वीर गाथाकाल व्यतीत हो [चु]का था और पूर्व मध्य या भक्ति-काल चल रहा था, जब कि कुछ कवियों ने अपने काव्यों में कथोपकथन का

विषय-प्रवेश

कुछ रूप आ जाने के कारण उनका नाटक नामकरण कर दिया था। ऐसा सबसे प्रथम सं० [१]६७० के आसपास की एक रचना के साथ किया गया था। [ऐ]सी रचनाएँ भी इनी गिनी मिलती हैं और वे प्राचीन काव्य-[भ]ाषा ही में प्राप्त हैं। उन्नीसवीं शताब्दि विक्रमीय के अंत की [कु]छ रचनाएँ अवश्य ऐसी प्राप्त हैं, जिन्हें केवल नाम मात्र का [न]ाटक नहीं कह सकते। वे काव्यमय अवश्य हैं पर उनमें नाटक [क]े मुख्य तत्व भी कुछ अंशों मे वर्तमान हैं और नाटकों की रूप-[रे]खा भी। अब समय-क्रम से ऐसी रचनाओं तथा रचेताओं का [वि]वरण दिया जाता है।

जैन कवि बनारसीदास का जन्म स० १६४३ मे आगरे मे [हु]आ था। स० १६६३ मे इन्होंने 'नाटक समयसार' लिखा, जो कुंदकुंदाचार्य के ग्रंथ का भाषांतर है। यह एक

समयसार-नाटक

प्रसिद्ध जैन काव्य है जिसमें नीति अधिक कही गई है। इनके अन्य ग्रंथ सूक्ति-मुक्तावली, ज्ञान-[ब]ावनी नाममाला अर्द्ध कथानक आदि हैं। समवसार वास्तव

सें नाटक नहीं है, केवल जैन धर्म-संबंधी सात तत्वों का पद्यमय वर्णन तथा नीति-कथन है।

रामायण महानाटक

प्राणचंद चौहान ने रामचरित्र पर कथोपकथन के रूप में रामायण महानाटक लिखा है, जो विशेषतः चौपाइयों में है। इसका रचनाकाल सं० १६६७ है, जब शाह सलीम दिल्लीपति था। यह नाटक के नियमों के अनुसार न होते भी केवल संवाद रूप में होने से नाटक कहा गया है। भाषा मधुर तथा स्पष्ट है और काव्य-कौशल से बहुत कुछ युक्त है।

देवमाया प्रपंच नाटक

इस नाटक के रचयिता देव व्यासजी के शिष्य थे, प्रसिद्ध देव कवि नहीं थे, जैसा कि भ्रमवश हिंदी-साहित्य के इतिहास-कारों ने लिखा है। यह नाटक छ अंकों में पूर्ण हुआ है और प्रबोध-चंद्रोदय के समान भावात्मक है। इसका निर्माणकाल सत्रहवीं विक्रमीय शताब्दि का मध्य है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार है और कवि भी अच्छे हैं।

हनुमान नाटक

कृष्णदास के पुत्र हृदयराम उपनाम राम ने संस्कृत हनुमन्नाटक या महानाटक का हिंदी में अनुवाद सं० १६८० मे किया था। यह पहिले दाक्षिणात्य थे पर बाद को स्यात् उत्तरापथ मे आ बसे होंगे। इन्होंने लिखा है कि इनके समय जहाँगीर (राज्य-काल स० १६६२–१६८४) बादशाह था। इनका रचा हुआ एक रुक्मिणीमगल भी कहा जाता है। किसी हृदयराम का बलिचरित्र भी खोज मे मिला है। सन् १९०९–११ की रिपोर्ट मे इस नाटक की दो प्रति मिली थी,

एक में अंत का भाग नहीं है और दूसरे में आरंभ नहीं है। प्रथम (संख्या ११६) में 'हिरदैराम' नाम आरंभ में दिया है और द्वितीय में (संख्या २४३) अंत में 'कवि राम' दिया है। बस दो कवि और दो अनुवाद मान लिए गए और 'विनोद' में भी यह भूल पहुँच गई। यदि रिपोर्ट-लेखक जरा कष्ट उठाकर प्रथम का मध्य-अंश और द्वितीय का आरंभ-अंश मिलान कर लेते तो एक ही कवित्त दोनों में पाते तथा यह भ्रम न फैलता।

यह नाटक पद्यमय है और एक सुकवि कृत है। मूल संस्कृत में भी पद्य का अंश विशेष है। अनुवाद में नाटक का सम्यक् रूप नहीं आया है।

मूल संस्कृत नाटक कृष्ण मिश्र कृत है। यह भावात्मक नाटक है अर्थात् मोह, क्रोध आदि को पात्र बनाकर नाटक लिखा गया है। हिंदी में इसके कई अनुवाद हुए हैं। सबसे प्राचीन अनुवाद जोधपुर-नरेश महाराज यशवंतसिंह कृत है, जिनका जन्म संवत् १६८३ है और राज्यकाल सं० १६६५–१७३५ वि० तक है। यह

प्रबोध चंद्रोदय नाटक

रचना सं० १७०० के आसपास की होगी। पद्यमय होते भी बीच-बीच में पात्र आदि के कथन, आने जाने का गद्य में उल्लेख है, जैसे 'यह कहिकै चले तितनै सूत्रधार आइ आसीर्वाद दै कै बोल्यो'। कविता इन सुकवि आचार्य के योग्य ही है। इनके अनंतर सं० १७२६ में अनाथदास ने दूसरा अनुवाद किया, जो दोहों में है। अभिनय की बातें भी दोहों में ही कही गई हैं। इनकी दो अन्य रचना रागरत्नावली और विचारमाला भी खोज में मिली हैं। सुरति मिश्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण आगरा के रहनेवाले थे। इन्होंने

आठ नौ ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें कविता तथा टीकाएँ दोनों हैं। य
सुकवि थे तथा भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। यह साहित्य
मर्मज्ञ भी पूरे थे। इनका रचनाकाल सं० १७६०–१७०० त
संभवतः था। प्रबोध चंद्रोदय नाटक का इनका अनुवाद नाट
रूप में न होकर काव्य रूप में हुआ है। आरंभ में केवल ने
दोहे हैं तथा पूरा नाटक २८४ ककुभा छंदों में अनूदित है। ग
का नाम भी नहीं है पर कविता बहुत अच्छी है। तीसरा अनुवा
ब्रजवासीदास कृत है, जिसका रचनाकाल सं० १८१६ है। य
वल्लभ-संप्रदाय के वृंदावन-निवासी वैष्णव थे। इस अनुवा
की कई हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। यह अनुवाद भी दोहे
में ही अधिकतर है और कविता अच्छी है। इनकी अन्य रचन
ब्रजविलास सं० १८२७ में बनी, जो कृष्ण-चरित्र-संबंधी प्रबंध
काव्य है। इसके अनंतर सं० १८४० में आनंद ने दोहे-चौपाई में
इसका अनुवाद किया। यह काशी-निवासी थे और अपने अनुवाद
का नाम स्वनाम पर नाटकानंद रखा था। भाषा पर इनका अच्छा
अधिकार ज्ञात होता है। यह कृष्ण-भक्त वैष्णव थे। इनके सिवा
जन अनन्य कृत एक अनुवाद का और भी पता चलता है।

शाकुंतला

नेवाज अंतर्वेद के निवासी ब्राह्मण थे। यह महाराज छत्र-
साल (सं० १७०६–६१) तथा शाहजादा आजमशाह (सं०
१७१०–१७६४) के आश्रित रहे। द्वितीय ही
की आज्ञा से सं० १७३७ मे इन्होंने शकुंतला
नाटक के आख्यानक को ब्रजभाषा पद्य मे
लिखा था, जिसमें दोहे, चौपाई, सवैये आदि अनेक प्रकार
के छंद हैं। इनके स्फुट पद भी अनेक संग्रहों मे मिलते हैं।

इनकी भाषा सुगठित तथा अत्यंत परिमार्जित है। यह सहृदय तथा कुशल कवि थे और भावों को सुस्पष्ट कर देते थे। इनकी यह रचना नाटक कहलाते हुए भी काव्य ही है।

सभासार

रघुराम नागर ने यह नाटक सं० १७५७ वि० में लिखा था। यह अहमदाबाद के रहनेवाले थे। इनकी एक अन्य रचना माधव-विलास शतक भी कही जाती है। इस नाटक की दो प्रतियाँ मिली हैं, जिसके उद्धृत अंशों से ज्ञात होता है कि यह रचना नीति पर है। कथोपकथन के रूप में चुगल आदि के लक्षण पद्य में कहे गए हैं और इसी कारण यह नाटक कहा गया है। कवि संस्कृत का ज्ञाता है और कवि-परंपरा की भाषा के प्रभाव से कुछ मुक्त होने के कारण उसकी भाषा में संस्कृत तथा खड़ी बोली का पुट अच्छी मात्रा में मिलता है।

करुणाभरण

कृष्णजीवन लछीराम ने यह पद्यमय नाटक श्रीकृष्णलीला के आधार पर लिखा है। इसमें विशेषतः दोहे-चौपाइयाँ हैं। यह शुद्ध काव्य ही है। इसके रचेता राजस्थान-निवासी ज्ञात होते हैं। जो प्रति प्राप्त हुई है, वह सं० १७८२ की लिखी हुई है और इससे इसका रचना-काल इसके पूर्व का ज्ञात होता है।

माधवविनोद नाटक

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर-नरेश बदनसिंह के पुत्र प्रतापसिंह के आश्रित थे। कविता में ससि नाथ उपनाम रखते थे। इन्होंने सं० १८०९ में मालतीमाधव का पूरा अनुवाद माधव-विनोद नाटक नाम से किया था। यह पद्यमय है। इनकी अन्य रच-

नाओं में प्रसिद्ध रीति-ग्रंथ रसपीयूपनिधि, कृष्णलीलावती पंचाध्यायी तथा सुजानविलास हैं। यह उत्कृष्ट कवि हो गए हैं और जिस विषय को लिया है, उसे स्पष्ट करने में काफी सफल हुए हैं। मुक्तक तथा प्रबंध दोनों ही के लिखने मे कुशल थे। यह नाटक इनकी प्रायः अंतिम रचना है और बहुत उत्तम बन पड़ा है। रीति-काल के आचार्य-कवियों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी भाषा ब्रजभाषा थी और यह बहुत सरल तथा शुद्ध भाषा का प्रयोग करते रहे। इस माधवविनोद नाटक के कुछ उदाहरण सत्यनारायण के मालती-माधव के अनुवाद मे मिलते हैं।

इसके रचेता हरिराम जी प्रेमसागर के लेखक लल्लूलालजी के वंशधर थे, जिससे इनका समय ईसवी उन्नीसवीं शताब्दि का मध्य काल ही हो सकता है। इस नाटक में सीता-स्वयंवर तथा रामजी का विवाह वर्णित है। विशेषतः पद्य होते भी खड़ी बोली हिंदी गद्य का भी काफी अंश है। दोहा, चौबोला अधिक हैं। गद्य प्रेमसागर की भाषा से अधिक परिमार्जित है, जैसे 'प्यारी कहो आज तुम्हारे मन मे कौन से नाटक देखने की अभिलाषा है। जो तुम कहो वही नाटक आज मैं तुम्हें करके दिखलाऊँ।' पद्यों मे खड़ी बोली का बराबर पुट है।

जानकी-रामचरित नाटक

इसके नाटककार लक्ष्मणशरण उपनाम मधुकर अयोध्या के एक महंत थे। यह नाटक भी सीता-स्वयंवर की कथा को लेकर ही लिखा गया है। इसमें गद्य तथा पद्य दोनों ही हैं और खड़ी बोली ही का प्राधान्य है। निर्माणकाल या लिपिकाल नहीं दिया गया है

रामलीला-विहार

पर यह उन्नीसवीं ईसवी शताब्दि ही की रचना है। खड़ी बोली गद्य भी अत्यंत परिमार्जित है। 'यह आश्रम अत्यंत सुंदर है, यहाँ पर रघुनाथजी का भजन करने से बड़ा सुख होगा।' यह भाषा प्रेमसागर की भाषा के बाद की ही हो सकती है।

गणेश

करौली के निवासी चतुर्वेदी गणेश कवि ने रस चंद्रोदय आदि कई ग्रंथ रचे हैं, जिनमें एक कृष्णभक्ति-चंद्रिका नाटक भी है। यह करौली-नरेश श्रीमदनपालसिंहजी के आश्रित कवि थे। यह नाटक अप्रकाशित है और हस्तलिखित प्रति भी नहीं प्राप्त हो सकी कि उसके विषय में कुछ लिखा जा सके।

आनंदरघुनंदन नाटक

बांधवनरेश महाराज जयसिंह सं० १८६६ में गद्दी पर बैठे थे और इन्हीं से भारत-सरकार से संधि हुई थी। यह साहित्य-सेवी थे तथा इन्होंने प्रायः बीस पुस्तकें लिखी थीं। इन्हीं के पुत्र महाराज विश्वनाथसिंह थे, जिनका जन्म सं० १८४६ में हुआ था और जिन्हें अपने जीवनकाल ही में सं० १८७८ में राजगद्दी दे दी थी। यह सं० १६११ वि० तक गद्दी पर रहे। यह भी अपने पिता के समान ही प्रसिद्ध साहित्य-सेवी तथा कवियों के आश्रय-दाता थे। प्रायः तीस रचनाएँ इनकी कही जाती हैं, जिनमें कुछ ऐसी भी हैं, जो इनके नाम पर इनके आश्रितों ने बनाई हैं। इनकी अधिकतर रचनाएँ रामचरित्र ही पर हैं क्योंकि यह राज-वंश रामोपासक ही है। इन्हीं रचनाओं में आनंदरघुनंदन नाटक है, जिसे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने हिंदी का प्रथम नाटक माना है। यह नाटक सात अंकों में समाप्त हुआ है और रामजन्म से

लेकर राज्याभिषेक तक की पूरी कथा के आधार पर निर्मित हुआ है। इस कारण कथावस्तु इतनी तीव्र गति से चला है कि दर्शकों को कुल घटनाओं का समझते हुए अनुगमन करना संभव नहीं है और इसीसे अंकों को गर्भांकों या दृश्यों में बाँटा भी नहीं गया है। प्रथम अंक मे रामजन्म से राम विवाह तक की कथा आ गई है, जिसमें अहिल्योद्धार, ताड़कादि वध, स्वयंवर आदि सबका उल्लेख हो गया है। नट आदि के तमाशों, गान, हँसो का भी समावेश किया गया है और प्रायः पचीस तीस बार पात्रगण आए गए हैं तथा स्थान, दृश्य आदि बदले गए हैं। दूसरे अंक मे सरस्वती का मति फेरना, कैकेयी का वर माँगना, राम-वनगमन, ऋषियों से मिलना, भरत-मनावन तथा अत्रि ऋषि के पास पहुँचना दिखलाया गया है। तृतीय अंक में दस वर्ष वनवास, जटायु-मिलन, अयोध्या से शुक का कुशल-मंगल पूछने आना, सूर्पणखा की नाक काटा जाना, खर आदि का मारा जाना, सीता-हरण, विरह-वर्णन, शबरी-मिलन तथा किष्किंधा की ओर जाने तक की कथा आ गई है। चतुर्थ अक में सुग्रीव-मिलन, वालि-वध, सुग्रीव-राज्य, सीतान्वेषण तथा हनुमान के समुद्र-संतरण की तैयारी तक कथा पहुँचती है। पाँचवें में हनुमानजी का लका पहुँचकर वाटिका छिन्न-भिन्न करना, अक्ष को मारना, रावण-सभा में जाना, लंका-दहन, रामजी से आकर संदेश कहना, सैन्य का समुद्र-तट पहुँचना, विभीषण का आना तथा सेतु बाँधकर पार उतरना वर्णित है। छठे अक में चारों फाटक के युद्ध से रावण-वध तक कुल युद्ध वर्णन, विभीषण को राज्य तथा सीताजी सहित पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या-प्रस्थान तक कथा समाप्त की गई है। सातवें

अंक में भरत-मिलाप तथा राज्याभिषेक का वर्णन है। दरबार में पैंतीस अप्सराओं, यूरोपीय, अरबी, तुर्की तथा मरु देश की गायिकाओं के नाम दिए गए हैं। अंत में रामचंद्रजी के स्वलोक जाने का भी निर्देश है।

रामायण की सारी कथा लेकर उसे एक नाटक के वस्तु रूप में सुगठित करने का यह प्रयास सफल नहीं हो सका है, केवल कथोपकथन में कुल बातें अति संक्षेप में दी गई हैं। कथावस्तु-गठन के अंग-प्रत्यंग सभी इसीमें विलीन हो गए हैं। पात्रों की संख्या भी सैकड़ों हैं अतः चरित्र-चित्रण प्रायः नहीं के समान है। वास्तविक नामों के इतने भयंकर पर्याय पात्रों को दिए गए हैं कि उसे पढ़कर या सुनकर बरबस हँसी सी आ जाती है, जैसे रामचंद्र का हितकारी, लक्ष्मण का डीलधराधर, भरत का जगडह-डहकारी आदि। रसों में कहा जा सकता है कि वीररस प्रधान है पर उसका भी पूर्णरूपेण परिपाक नहीं हो पाया है, वह तो कथा के बोझ से शुष्क हो गया है। भाषाओं में मुख्यतः व्रजभाषा ही का प्राधान्य है पर उसपर भी नाटककार का विशेष अधिकार नहीं है और न उसमें प्रसाद, ओज आदि गुण ही आ सके हैं। संस्कृत, फारसी पैशाची, मराठी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं का स्थान स्थान पर व्यवहार किया गया है, जिससे केवल यह ज्ञात होता है कि रचेता इन सबको जानते हैं पर ऐसा करना कुछ विचित्र सा मालूम होता है। तात्पर्य यह कि यह रचना नाटक-कला की दृष्टि से किसी काम की नहीं है और न इसका अभिनय ही हो सकता है। इसका महत्व केवल इसकी प्राचीनता मात्र है। इसके कुछ पद अवश्य अच्छे हैं तथा नाटककार के सुकवि होने के द्योतक हैं।

यह कन्नौज निवासी कायस्थ थे। यह सुकवि थे और इन्होंने बिहारी-सतसई पर कुंडलियाँ लिखी हैं। इन्होंने रामायण की कथा लेकर नाटक रामायण लिखा है और कृष्ण-चरित्र से ऊषा-अनिरुद्ध का आख्यान लेकर दूसरा नाटक निर्माण किया है। इनका समय बीसवीं शताब्दि विक्रमाब्द का आरंभ है। ये नाटक भी देखने को नहीं मिल सके।

ईश्वरी प्रसाद

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदासजी का जन्म काशी में सं० १८९० में हुआ था। यह ग्यारह वर्ष की अवस्था में पितृविहीन हो गए थे, जिससे इनकी शिक्षा विशेष रूप से नहीं हो सकी। यह प्रतिभाशाली थे, जिससे संस्कृत तथा हिंदी के ऐसे सुकवि तथा विद्वान हुए कि तत्कालीन काशी के बड़े बड़े पंडित इनका सम्मान करते थे। इनके चालीस ग्रंथों की रचना का उल्लेख भारतेंदुजी ने किया है, पर इनमें से बाईस तेईस अब प्राप्त हैं। इनमें केवल एक नाटक है, जिसका कुछ अंश मिलता है। इनकी मृत्यु सं० १९१७ में हुई थी और इतनी ही अल्पावस्था में इतने तथा अच्छे ग्रंथों का प्रणयन इनकी अद्भुत मेधाशक्ति का द्योतक है।

गिरिधरदास

इनका नहुष नाटक सं० १८९८ में बना था, जिसकी प्रस्तावना तथा प्रथम अंक कविवचन सुधा के प्रथम वर्ष में छपा था। पूरी पुस्तक किसी प्रकाशक के यहाँ से गुम हो गई, जिसका फिर पता न चला। एक दोहे में मंगलाचरण तथा एक कवित्त और एक सवैया में नांदी समाप्त कर प्रस्तावना आरंभ की गई है। सूत्रधार,

पारिपार्श्वक तथा नटी की बातचीत में नाटक-परिचय दिया जाता है और सूत्रधार के कथन को लेकर इंद्र-पात्र का प्रवेश होता है। प्रथम अंक में इंद्र आता है और वृत्रासुर के वध करने के कारण, जो ब्राह्मण था, ब्रह्महत्या कृत्या-रूप में उसका पीछा करती हुई आती है। इंद्र उसे देखकर भागता है। तब इंद्र-पुत्र जयंत और कार्तिकेय आकर कथोपकथन में वृत्रासुर-युद्ध, दधीचि की अस्थि से वज्र का बनना तथा वृत्रासुर के मारे जाने का हाल कहते हैं। इसके अनंतर मातलि आकर ब्रह्महत्या के कारण इंद्र के भागने का वृत्त कहता है और सब उन्हें खोजने जाते हैं। यहीं प्रथम अंक समाप्त होता है।

यह नाटक संस्कृत नाटकों के समान नाट्यकला के सभी अंग प्रत्यंगों से युक्त है और पद्यमय है। केवल प्राप्त अंश ही में ६१ दोहे, छप्पय, कवित्त और सवैये हैं अर्थात् गद्य अंश एक चौथाई से भी कम है। भाषा गद्य-पद्य दोनों की ब्रज है। कविता तथा नाटक दोनों ही अच्छे हैं पर शोक है कि यह पूर्ण नहीं मिलता। गिरिधरदासजी के अन्य ग्रंथों की भी प्रायः यही दुर्दशा हो रही है। इस नाटक से एक उदाहरण लीजिए—

कार्तिकेय—जब वृत्रासुर के भय सों सुर सब भागे तब छीर-निधि के निकट जाय कै यह कहन लागै—

छप्पय

जै रमेस परमेस सेस साईं सुरेस हरि।
जै अनत भगवंत संत मदित दानव-अरि॥
जै दयाल गोपाल प्रतिपाल गुनाकर।
जै अनन्य गति धन्य धर्मधुर पञ्चजन्यधर॥

वृंदारक वृंद अनंदकर कृपाकंद भव फंद कर।
हरवंद मनोहर रूप धर जै मुकुंद दुखदुंद हर॥

यह यदुवंशीय क्षत्रिय थे तथा इनका जन्म आगरे मे ९ अक्तूबर सन् १८२६ ई० मे हुआ था। इन्होंने अँग्रेजी में सीनिअर परीक्षा पास की और संस्कृत, हिंदी, बंगला तथा फारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। इन्होंने सन् १८५० ई० में सरकारी नौकरी आरंभ की और पूरे चालीस वर्ष के बाद पेंशन प्राप्त कर अलग हुए। सन् १८७० ई० में इन्हें राजा की पदवी मिली और सन् १८९६ ई० की १४ जुलाई को इनकी मृत्यु हुई। यद्यपि इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं पर इनकी ख्याति मुख्यतः कालिदास के रघुवंश, मेघदूत तथा अभिज्ञान-शाकुंतल के अनुवादों पर स्थित है। इनका शकुंतला नाटक पहिली बार सन् १८६३ ई० में छपा, जो पूरा गद्य मे था अर्थात् मूल पद्यों के अनुवाद भी गद्य ही में थे। इसके पचीस वर्ष बाद राजा साहब ने पद्य के स्थान पर पद्यानुवाद करके पुनः इसे प्रकाशित कराया, जो अब उसी रूप मे विशेष प्रचलित है। यह अनुवाद आरंभ ही से शिक्षा-कार्य में काम आता रहा है और इसी का फ्रेडरिक पिनकाट द्वारा संपादित संस्करण विलायत से प्रकाशित होकर सिविलसर्विस के पाठ्य-क्रम मे रखा गया था। इसी कारण कुछ लोगों ने भ्रमवश फ्रेडरिक पिनकाट को शकुंतला का स्वतंत्र अनुवादक मान लिया है।

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा साहब के इस अनुवाद का गद्यांश शुद्ध हिंदी तथा पद्यांश व्रजभाषा में है। वे स्वयं व्रजभाषा-भाषी थे अतः यह

में सुत के सुता के भक्ति राजै देववर की। मंडन कविन के भए हैं कवि लाल लाल तिनके गुलाब कवि जानै पुन्य थर की।' इससे यह ज्ञात होता है कि नरहरि की पौत्री के प्रपौत्र गणेश कवि थे। यह स्पष्ट नहीं है कि वह नरहरि की पौत्री थी या उनके किसी वंशज पौत्र, प्रपौत्र की पुत्री थी। अधिकतर अंतिम ही बात के सत्य होने की संभावना है। गणेश कवि के आश्रयदाता काशिराज उदित नारायणसिंह (सं० १८४२–१८६२) तथा ईश्वरी प्रसाद नारायणसिंह (जन्म सं० १८७६, राज्यकाल १८६२–१९४६) थे। अतः इनका समय अनुमानतः सं० १८५० से १९१० तक हो सकता है। इनकी एक रचना वाल्मीकि-रामायण श्लोकार्थ-प्रकाश प्रथम महाराज के समय में और प्रद्युम्नविजय नाटक (साहित्य-सागर) द्वितीय महाराज के समय में लिखा गया था। इन्हीं के आश्रय में सं० १८९६ में हनुमतपचीसी भी लिखी गई थी। निर्माणकाल के दोहे में गणेश ने अपने को राय लिखा है, जिससे इनका वंदीजन होना विशेष पुष्ट होता है।

प्रद्युम्नविजय नाटक में सात अंक हैं। प्रस्तावना में मंगला-चरण के बाद नांदी होने पर सूत्रधार आता है और काशिराज की प्रशंसा तथा नाटककार और नाटक का परिचय देकर प्रस्तावना समाप्त करता है। प्रथम अंक के विष्कंभक में इंद्र आकर कृष्णजी से वज्रनाभ दैत्य से त्राण पाने की प्रार्थना करते हैं और वह उसे कश्यपजी के पास भेजते हैं। अंक में कश्यपजी अपनी दोनों स्त्री दिति-अदिति के साथ आते हैं, दोनों में सापत्न्य की दो दो चोटें चलती हैं और इंद्र तथा वज्रनाभ दोनों आते हैं। कश्यपजी इन्हें राज्य बाँटकर रहने की आज्ञा देते हैं। द्वितीय

अंक के मिश्र विष्कंभक में कंचुकी तथा गोपी बातकर श्रीकृष्णजी के प्रद्युम्न को बुलाने तथा इंद्र की सहायता को भद्र नट के साथ भेजने की सूचना देते हैं। अंक में भद्र नट अपने घूमे हुए स्थानों का वर्णन करते हुए इंद्र की हालत बतलाता है और अंत में प्रद्युम्न आदि को नट के साथ वज्रनाभपुर जाने की आज्ञा मिलती है। तृतीय के प्रवेशक में दो खवासिनी हंसिनियाँ तथा रुक्मिणीजी के मंत्रणा करने की सूचना देती हैं। इस अंक में श्रीकृष्णजी, रुक्मिणीजी तथा हंसी की बातचीत होती है, हंसी व्रज्रनाभपुर तथा दैत्य-दरबार का पूर्ण विवरण देकर प्रद्युम्न, गद तथा सांब को नटों के साथ भेजने की राय देती है. क्योंकि वह वज्रनाभ की पुत्री प्रभावती से प्रद्युम्न को लिवा लाने का वचन दे आई थी। श्रीकृष्णजी उसे सूचित करते हैं कि वह उन सबको भेज चुके हैं। चौथे अंक के प्रवेशक में कंचुकी आकर नटों के आने की सूचना देता है और नट दरबार में जाकर दो दिन में दो नाटक रामचरित्र तथा रंभाभिसार दिखलाते हैं। इन नाटकों के कथावस्तु का संक्षेप में उल्लेख है कि इस प्रकार नाटक दिखलाया गया। पाँचवें अंक में प्रभावती तथा हंसी आती हैं, चंद्रोदय का वर्णन होता है, प्रद्युम्न आते हैं तथा दोनों का गांधर्व-विवाह होता है और सुरति तथा सुरतांत तक का वर्णन होता है। इसी अंक में समग्र नाटक का एकमात्र गद्य-वाक्य इस प्रकार आया है—प्रद्युम्न चद्रमा को प्रनाम करि फेरि प्रभावति से बोल्यो। छठे अंक में हंसी की सम्मति से प्रभावती की दोनों बहिनों चंद्रवती तथा गुन-वती का प्रद्युम्न के भाई गद तथा सांब से विवाह होता है। सातवें में वज्रनाभ को इन विवाहों का पता लगता है, युद्ध ह

है और सब दैत्य मारे जाते हैं। प्रद्युम्नादि सपत्नीक अपने राज्य को लौटते हैं।

यह नाटक गणेश कवि रचित साहित्यसागर अलंकार-प्रबंध में नाटक-निरूपण नामक द्वादश तरंग में दिया गया है। यह काव्यमय है और अनेक प्रकार के मात्रिक तथा वर्णिक छंदों में प्रायः एक सहस्र पद रचकर कवि ने उक्त विशद ग्रंथ के लिए मानों छंदों के उदाहरण निर्मित किए हैं। इसकी कविता बहुत ही अच्छी हुई है और कई रसों का समावेश हुआ है। प्राकृतिक वर्णन भी कवि ने खूब किया है और गुणों तथा अलंकारों को अच्छी छटा दिखलाई है। भाषा पर कवि का अधिकार है तथा नाट्य-शास्त्र का भी ज्ञाता है। यद्यपि समय के प्रभाव तथा सुकवि होने के नाते कविता ही में नाटक लिख डाला है पर उसके अंग प्रत्यंग सभी सम्यक् रूप से दिए हैं। संस्कृत में इनके रचे हुए तीन श्लोक भी अंत में दिए गए हैं और साहित्यसागर का रचना-काल 'गगन पच्छ ग्रह चंद्रमा शुक्ल अषाढ़ द्वितीय' दिया है अर्थात् संवत् १९२१ के आषाढ़ शुक्ल द्वितीया गुरुवार को यह ग्रंथ समाप्त हुआ था। भारतेंदुजी ने नाटक निबंध मे जिस 'श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ प्रभावती नाटक' का उल्लेख किया है वह स्यात् यही नाटक है और नायिका के नाम पर लिख दिया गया है। इस नाटक से एक उदाहरण यहाँ दे दिया जाता है।

प्रस्तावना के अनतर—

ताही के उपरात कृष्ण इन्द्र आवत भए।
भेंटि परस्पर कात बैठ सभासद मध्य तहँ॥

बोले हरि इंद्र सों विनै कै कर जोरि दोऊ
आजु दिगविजय हमारे हाथ आयो है।
मेरे गुरु लोग सब तोषित भये हैं आजु
पूरो तप दान भाग्य सफल सुहायो है॥
कारज समस्त सरे, मंदिर में आये आप
देवन के देव मोहिं धन्य ठहरायो है।
सो सुनि पुरंदर उपेंद्र लखि आदर सों
बोले सुनो बंधु दानवीर नाम पायो है॥

यह त्रिपाठी ब्राह्मण थे। संस्कृत के विद्वान तथा बरैली कालेज हेड पंडित थे। भवभूति के उत्तररामचरित्र के पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट होने पर उसका इन्होंने हिंदी में अनुवाद किया। सन् १८७१ ई० में अनुवाद पूरा हुआ और दो वर्ष बाद कलकत्ते से प्रकाशित हुआ।

देवीदत्त

होंने २२ पृष्ठों में भूमिका लिखी है और उसके बाद पात्र-सूची कर अनुवाद दिया है। भाषा पंडिताऊ है और कवि न होने से लोकों के भाव भी गद्य मे दिए गए हैं पर कुछ दोहे बनाए हैं, ो अनुवाद के संबंध मे हैं। ये अंत मे दिए गए हैं। मूल का ाव पूरा आ गया है पर अनुवाद में मूल का सा आनंद हीं मिलता।

खोज मे गुरु गोविंदसिंह कृत एक चंडी-चरित्र नाटक का ल्लेख है, जिससे इसका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दि का मध्य ोता है। इसके अंत मे स्तुति-वर्णन अष्टमोध्यायः लिखा है, अतः ह छोटा सा काव्यमात्र है। सं० १८७६ में रचित कुशल मिश्र ृत गंगा नाटक मे गंगावतरण की कथा मात्र है। फैजाबाद-

पद्य-प्रधान हैं, गद्य का नाम मात्र को कहीं कहीं प्रयोग हुआ है। भाषा की दृष्टि से गान अधिकतर मैथिली में हैं, संस्कृत के भी श्लोक दिए हैं पर गद्य में प्राकृत, संस्कृत का ही अधिक प्रयोग है।

उक्त राजवंश की नाटक-रचनाओं के अतिरिक्त भी कई प्रतिभाशाली लेखकों ने बहुत से नाटक लिखे हैं, जिनमें अधिकांश अभी तक अप्रकाशित हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति ने पारिजात-हरण, रुक्मिणी-परिणय आदि नाटक लिखे हैं। देवानंद ने उपाहरण, हर्षनाथ झा ने उपाहरण और माधवानंद, महाराज दरभंगा के आश्रित कवि भानुनाथ झा ने प्रभावतीहरण, लाल झा ने गौरी-परिणय और जीवन झा ने सामवती पुनर्जन्म, नर्मदा सट्टक आदि लिखे हैं। इन सभी नाटकों के आधार पौराणिक आख्यान हैं और एक ही कथा पर कई नाटक भी लिखे गए हैं। मैथिली नाटकों का अभी विशेष अध्ययन नहीं किया जा सका है अतः उनका संक्षेप में परिचय दे दिया गया है।

मरने को तैयार होती है पर बाद को सुंदर का परिचय मिलने पर दोनों का विवाह समारोह से होता है।

यह नाटक साधारणतः अच्छा है, भाषा सरल है और पद्य भी दस बारह ही हैं पर ये सभी पद्य अवस्थानुकूल तथा हृदय-ग्राही हैं।

सं० १९२९ में कृष्ण मिश्र कृत प्रबोधचंद्रोदय नाटक के तृतीय अंक का पाखंड-विडंबन नाम से अनुवाद किया, जो छोटी सी गद्य-पद्यमय रचना है। सात्विक श्रद्धा से संसारी लोग इंद्रिय-सुख के लोभ से किस प्रकार विमुख हो जाते हैं, यही दिखलाया गया है। इसकी भाषा विद्यासुंदर से विशेष प्रौढ़ है और कविता भी अच्छी हुई है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन सं० १९३० में लिखा गया था, जो शुद्ध कवि-कल्पना-प्रसूत है। धर्म की ओट में लोग किस प्रकार अनाचार तथा अत्याचार करते हैं, यही इस नाटक में सफलतापूर्वक दिखलाया गया है। मांस-भक्षण, विधवा-विवाह तथा व्यभिचार का समर्थन धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम अंक में किया जाता है। दूसरे में पाखंडियों के तर्क वेदांती, शैव तथा वैष्णव को पूजाघर से भगा देते हैं। तीसरे में मांस-मदिरा से छके हुए पुरोहित, राजा तथा मंत्री नाचते हुए मांस-मदिरा की कीर्ति गाते हैं। चौथे में यमराज के दरबार में इन सब को दंड देना तथा शैव-वैष्णवादि को उनके योग्य पद देना दिखलाया है। शास्त्रों के वचनों से अपने मतलब के छोटे छोटे टुकड़े लेकर किस प्रकार दुष्ट लोग अपनी बातों का समर्थन करते हैं, यह भली-भाँति इसमें प्रदर्शित किया गया है। अपने समय के अनेक प्रसिद्ध

मरने को तैयार होती है पर बाद को सुंदर का परिचय मिलने पर दोनों का विवाह समारोह से होता है।

यह नाटक साधारणतः अच्छा है, भाषा सरल है और पद्य भी दस बारह ही हैं पर ये सभी पद्य अवस्थानुकूल तथा हृदय-ग्राही हैं।

सं० १९२९ में कृष्ण मिश्र कृत प्रबोधचंद्रोदय नाटक के तृतीय अंक का पाखंड-विडंबन नाम से अनुवाद किया, जो छोटी सी गद्य-पद्यमय रचना है। सात्विक श्रद्धा से संसारी लोग इंद्रिय-सुख के लोभ से किस प्रकार विमुख हो जाते हैं, यही दिखलाया गया है। इसकी भाषा विद्यासुंदर से विशेष प्रौढ़ है और कविता भी अच्छी हुई है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन सं० १९३० में लिखा गया था, जो शुद्ध कवि-कल्पना-प्रसूत है। धर्म की ओट में लोग किस प्रकार अनाचार तथा अत्याचार करते हैं, यही इस नाटक में सफलतापूर्वक दिखलाया गया है। मांस-भक्षण, विधवा-विवाह तथा व्यभिचार का समर्थन धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम अंक में किया जाता है। दूसरे में पाखंडियों के तर्क वेदांती, शैव तथा वैष्णव को पूजाघर से भगा देते हैं। तीसरे में मांस-मदिरा से छके हुए पुरोहित, राजा तथा मंत्री नाचते हुए मांस-मदिरा की कीर्ति गाते हैं। चौथे में यमराज के दरबार में इन सब को दंड देना तथा शैव-वैष्णवादि को उनके योग्य पद देना दिखलाया है। शास्त्रों के वचनों से अपने मतलब के छोटे छोटे टुकड़े लेकर किस प्रकार दुष्ट लोग अपनी बातों का समर्थन करते हैं यह भली-भाँति इससे प्रदर्शित किया गया है। अपने समय के अनेक प्रसिद्ध

लेखनी भी नहीं उठाते थे।

भारतेंदुजी ने प्रवास नाटक ही से नाट्यरचना आरंभ किया था पर उसे अपूर्ण छोड़ दिया। इसके अनंतर श्रीहर्षकृत रत्नावली नाटिका के अनुवाद में हाथ लगाया। भूमिका में लिखते हैं कि 'शकुंतला के सिवाय और सब नाटकों मे रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़नेवालों को आनंद देनेवाली है, इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।' यद्यपि इससे इस नाटिका के पूर्ण अनुवाद हो जाने की ध्वनि निकलती है पर इसकी केवल प्रस्तावना तथा विष्कंभक ही का अनुवाद प्राप्त है। इसी वर्ष भारतेंदुजी ने विद्यासुंदर नाटक लिखा, जिसका आधार सुंदर-कृत विद्यासुंदर तथा चौरपंचाशिका संस्कृत काव्य हैं। बँगला में इस आख्यान के आधार पर क्रमशः गोविंददास, कृष्ण-राम, भारतचंद्रराय गुणाकर तथा रामप्रसाद ने काव्य लिखे हैं और जोगेंद्रनाथ ठाकुर ने नाटक लिखा है पर भारतेंदुजी ने गुणाकर के काव्य से सहायता ली है क्योंकि इन दो के पात्रों के नाम स्थान आदि में साम्य है। यह नाटक तीन अंक तथा ४ + ३ + ३ गर्भांकों मे विभक्त है। किसी प्रकार की प्रस्तावना न देकर नाटक आरंभ हो जाता है। प्रथम गर्भांक में कुमारी विद्या से शास्त्रार्थ मे सभी राजकुमारों के परास्त होने से कांचीपुर का कुमार सुंदर बुलाया जाता है। दूसरे मे सुंदर वर्द्धमान में आकर हीरा मालिन के घर टिकता है, तीसरे मे उसी के हाथ विद्या के पास माला भेजता है और चौथे में विद्या उसके दर्शन करने का उपाय करती है। दूसरे अक मे दोनों का परिचय तथा गांधर्व-विवाह होता है। तीसरे अक मे पहिले सुंदर पकड़ा जाता है और विद्या

मरने को तैयार होती है पर बाद को सुंदर का परिचय मिलने पर दोनों का विवाह समारोह से होता है।

यह नाटक साधारणतः अच्छा है. भाषा सरल है और पद्य भी दस बारह ही हैं पर ये सभी पद्य अवस्थानुकूल तथा हृदय-ग्राही हैं।

सं० १९२६ में कृष्ण मिश्र कृत प्रबोधचंद्रोदय नाटक के तृतीय अंक का पाखंड-विडंबन नाम से अनुवाद किया, जो छोटी सी गद्य-पद्यमय रचना है। सात्विक श्रद्धा से संसारी लोग इंद्रिय-सुख के लोभ से किस प्रकार विमुख हो जाते हैं, यही दिखलाया गया है। इसकी भाषा विद्यासुंदर से विशेष प्रौढ़ है और कविता भी अच्छी हुई है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन सं० १९३० में लिखा गया था. जो शुद्ध कवि-कल्पना-प्रसूत है। धर्म की ओट में लोग किस प्रकार अनाचार तथा अत्याचार करते हैं, यही इस नाटक में सफलतापूर्वक दिखलाया गया है। मांस-भक्षण, विधवा-विवाह तथा व्यभिचार का समर्थन धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम अंक में किया जाता है। दूसरे में पाखंडियों के तर्क वेदांती, शैव तथा वैष्णव को पूजाघर से भगा देते हैं। तीसरे में मांस-मदिरा से छके हुए पुरोहित, राजा तथा मंत्री नाचते हुए मांस-मदिरा की कीर्ति गाते हैं। चौथे में यमराज के दरबार में इन सब को दंड देना तथा शैव-वैष्णवादि को उनके योग्य पद देना दिखलाया है। शास्त्रों के वचनों से अपने मतलब के छोटे छोटे टुकड़े लेकर किस प्रकार दुष्ट लोग अपनी बातों का समर्थन करते हैं, यह भली-भाँति इसमें प्रदर्शित किया गया है। अपने समय के अनेक प्रसिद्ध

विद्वानों पर भी भारतेंदुजी ने इस नवीन हास्य-मिश्रित प्रथा से आक्षेप किए हैं पर वे कटु नहीं होने पाए हैं। पात्रों के उपयुक्त चित्रण के साथ भाषा प्रहसन के योग्य चलती बोलचाल की है। शास्त्रों से उद्धरण बहुत से दिए गए हैं।

इसी वर्ष में कवि कांचन कृत धनंजय-विजय व्यायोग का अनुवाद किया गया था। इसमें प्राचीन प्रथानुसार पद्य-भाग अधिक है। अनुवाद मूल के अनुसार गद्य-पद्यमय है। इसका आख्यान इतना ही है कि राजा विराट के यहाँ पांडवों के एक वर्ष अज्ञातवास करने पर अंतिम दिन कौरवगण उक्त राजा का गोधन हरण कर ले जाते हैं और अर्जुन अकेले उन सबको परास्त कर हरण किए हुए गोधन को लौटा लाते हैं तथा विराट-कुमारी उत्तरा का अभिमन्यु से विवाह निश्चित होता है। अनुवाद अच्छा हुआ है।

सं० १६३२ मे प्रेमयोगिनी नामक नाटिका का लेखन आरंभ हुआ और इसके केवल चार गर्भांक ही लिखे गए। इसमें तत्कालीन काशी का वर्णन है और आज की दशा से बहुत कुछ मिलता है। इस प्रकार के और भी बहुत से दृश्य लिखे जाने योग्य बच गए थे पर किसी कारणवश वे नहीं लिखे जा सके। इसमे अपने पर भी बीती हुई कुछ बातो का एक पात्र पर घटाते हुए वर्णन किया है पर नाटक के अपूर्ण रहने से विशेप बात न दी जा सकी। इतने पर भी इस नाटक से इनकी निरीक्षण तथा उसे स्पष्टतः व्यक्त करने की शक्ति की उत्कृष्टता मालूम होती है।

सत्यहरिश्चंद्र इनकी अच्छी मौलिक रचना है (इसका आधार पौराणिक उपाख्यान ही है पर क्षेमीश्वर के चडकौशिक

से भी सहायता ली गई है। कथावस्तु में जो परिवर्तन किया गया है, वह नाटक का उन्नायक है। यह बालकों के लिए लिखा गया है और उनके लिए विशेष उपयोगी भी हो गया है। स्वप्न के दान को जागने पर सत्य मानकर दे देना सत्यवीर हरिश्चंद्र ही के योग्य था और इस प्रकार की कल्पना भी सत्यप्रतिज्ञ कवि की ही उपज हो सकती है। सत्यता का आदर्श बहुत ऊँचा है। दक्षिणा चुकाने के लिए काशी जाकर सकलत्र विकना और अयोग्य काम करते भी स्वामिभक्ति दिखलाना सत्य-प्रतिज्ञ हरिश्चंद्र के आत्मिक तथा चरित्र-बल का द्योतक है। एकाएक ज्ञात एकमात्र पुत्र के शोक-काल में भी धैर्य रखते हुए कर माँगना तथा देना इन पति-पत्नी के योग्य ही था। वीर-करुण रस का यह अपूर्व नाटक इसी उपाख्यान के संस्कृत नाटकों से बहुत आगे बढ़ गया है। इस नाटक में राज-धर्म तथा पति-पत्नी-धर्म के आदर्श उपस्थित किए गए हैं।

मुद्राराक्षस नाटक का अनुवाद इसी वर्ष में समाप्त हुआ था। संस्कृत नाट्य-साहित्य में अपने विषय का एक मात्र नाटक होने से यह अद्वितीय तथा अति प्रसिद्ध है। इसका अनुवाद भी ऐसा हुआ है कि पढ़ने मे मूल का आनंद आता है। कहीं-कहीं अनुवाद मे कुछ छोड़ दिया गया है और कहीं बढ़ा दिया गया है पर वह कार्य इस प्रकार किया गया है कि उसका पता बिना मूल से मिलान किए नहीं लगता। पद्यमय अंशों के अनुवाद भी बहुत ही अच्छे हुए हैं। यह वीर रस का नाटक है।

कर्पूर-मंजरी सट्टक का अनुवाद सं० १९३२ की कविवचनसुधा मे क्रमशः छपा है। यह पूरा नाटक शुद्ध प्राकृत मे है और नाटक के इस भेद का यही एक मात्र उदाहरण है। इसका कथावस्तु

इतना ही है कि एक [illegible] राजा एक जोगी की भांति [illegible] सुंदरी राजन्यों को बतलाता है। उसकी रानी इस सुंदरी की जोगिनी बनकर निकलती है, जिसको वह ग्रहण करना चाहता है। परन्तु दोनों में प्रेम हो जाता है और अंत में विवाह भी हो जाता है। श्रृंगार के साथ हास्य का भी अच्छा पुट है। अनुवाद भी सुंदर हुआ है। अनुवाद में पद्य [illegible] स्थान हैं। कुछ पद्य अन्य कवियों के भी रखे गए हैं।

इसी वर्ष बड़ौदा नरेश मल्हारराव के गद्दी से उतारे जाने पर 'विषस्य विषमौषधम्' लिखा गया, जो रूपक का एक भेद भाण है। यह मल्हारराव अपने कुप्रबंध के कारण सन् १८७५ ई० में राज्यच्युत किए गए थे और वर्तमान महाराज [illegible] गद्दी पर बिठाए गए थे। कवि ने शक्तिशाली साम्राज्य की आँखों के सामने देशीय नरेशों के अत्याचार तथा प्रजापीड़न करने पर शोक तथा उनके दंड पाने पर हर्ष प्रकट किया है। अन्य नरेशों के प्रति उपदेश है कि वे इससे शिक्षा ग्रहण करें।

श्री चंद्रावली नाटिका की इसी वर्ष रचना हुई है, जो नाटककार की उत्कृष्ट रचनाओं में एक है। यह अनन्य प्रेम रस से भरी हुई है। इसमें श्रीचंद्रावलीजी का प्रेम, विरह तथा अंत में मिलन दिखलाया गया है। इसका श्रृंगार रस प्रायः अंत तक विप्रलंभ है, केवल अंतिम दृश्य में मिलन होने पर संयोग हुआ है। इसमें प्रेम की सभी अवस्थाएँ वर्णित हैं और इसमें के कथोपकथन तथा पद्य अत्यंत सरल और हृदयग्राही हैं। पहिले अंक में चंद्रावलीजी तथा सखियों के वार्तालाप में अनुराग प्रकट होता है, दूसरे में उपवन में सखियों से विरह-वर्णन करती हैं और विरहोन्माद में

प्रलाप करती हैं। यह अवश्य बढ़ गया है पर अस्वाभाविक नहीं होने पाया है और न कोई सहृदय इसे पढ़ने या सुनने में उकता सकता है। तीसरे में विरहकातरा श्रीचंद्रावली तथा उनकी सखियाँ बातचीत करते हुए मिलन का उपाय ठीक करती हैं और चौथे में जोगिन का वेश धारण कर श्रीकृष्णजी आते हैं तथा मिलन होता है। इन अंकों में यमुनाजी तथा वर्षा का वर्णन अच्छा हुआ है। इस नाटिका में निस्पृह दैवी प्रेम का सजीव चित्रण सच्चे प्रेमी भक्त द्वारा किया गया है और इसमें के एक एक पद प्रेमियों की निधि हैं। इस नाटिका का संस्कृत तथा व्रजभाषा में अनुवाद उसी समय हो गया था।

भारत दुर्दशा भी इसी वर्ष निर्मित हुई थी। यह छ अंकों का छोटा सा रूपक है और इसमें नाटककार ने भारत के प्राचीन गौरव का ओजपूर्ण भाषा में वर्णन करते हुए उसकी वर्तमान दुरवस्था पर शोकाश्रु बहाए हैं, जिनका पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव पड़ता। उस समय के है भारत से आज का भारत विशेष आगे नहीं बढ़ सका है और देश की दशा का जो चित्र कवि ने उस समय खींचा था वह आज भी बदलने योग्य नहीं हो पाया है। आलस्य-प्रिय भारत के लिए यह कोई नई बात नहीं है।

सं० १९३४ में भारत-जननी बँगला भारतमाता के आधार पर लिखी गई थी। कहा जाता है कि यह इनके एक मित्र की लिखी है पर वह इतनी भ्रष्ट थी कि भारतेंदुजी ने उसका पूरा संशोधन कर तथा अपनी कविता मिलाकर इसे प्रकाशित कराया था। मित्रजी को इस कारण अपना नाम मुखपृष्ठ पर देने का

दिलाने का साहस नहीं पड़ा। इसमें देश-दशा ही का विवरण है और यह कई बार खेला भी जा चुका है।

सं० १६३७ में कई वर्ष के अनंतर नीलदेवी का प्रणयन हुआ, जो एक ऐतिहासिक नाटक है। एक क्षत्रिय-नरेश को सन्मुख युद्ध में परास्त करने में असमर्थ मुसल्मान सेनापति रात्रि-आक्रमण कर उसे पकड़ लेता है और धर्म-त्याग न करने पर उसे मार डालता है। पति का बदला तथा शव लेने को रानी नीलदेवी छद्मवेश से मुसल्मान शिविर में जाती है और सेनापति को मारकर शव लाती है तथा सती हो जाती है। वीर तथा करुण के साथ हास्य रस का भी मेल दिया गया है। कादरों की डींग तथा पागल की बड़बड़ाहट से हँसी आ ही जाती है। वीरों की बातचीत से उत्तेजना मिलती है पर देवता के गान से हृदय रो उठता है कि क्या हम ऐसे गए बीते हो गए हैं। इसमें देश-हितैषिता का भाव पूर्ण रूपेण है और यह पठनीय तथा अभिनय के योग्य है।

इसी वर्ष शेक्सपीअर के मर्चेंट ऑव वेनिस का अनुवाद दुर्लभ-बंधु के नाम से आरंभ हुआ, जो बँगला पुस्तक सुरलता तथा बाबू बालेश्वरप्रसाद की सहायता से लिखा जाने लगा परंतु यह अपूर्ण रह गया, जिसे बाद को पं० रामशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्णदास ने पूरा किया था। भारतेंदुजी ने पात्रों के यूरोपियन नामों को सुंदर हिंदी रूप दे दिया है। अनुवाद अच्छा हुआ है।

अंधेर नगरी प्रहसन है, जो सं० १६३८ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इसका पूरा नाम 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' है। इसमें दिखलाया गया है कि लोभ

ग्रहण किया है। न एक की जटिलता में फँसे और न दूसरे की नकल ही उतारने में लगे। नाटक निबंध मे स्वयं लिखा है कि 'अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं संफेट, पंचसंधि वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करने वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा-संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ जाता है।' तात्पर्य यह कि भारतेंदु जी ने समयानुसार मध्य मार्ग ही का अवलंबन किया था और इसमें, नाट्य-रचना को नया रुख देने मे, वे सफल भी हुए।

भारतीय नाट्यकला के अनुसार नाटक के तीन मूल तत्व कथावस्तु, नायक तथा रस हैं और ये तीन सदा बने रहेंगे। समय कितना भी परिवर्तित हो और नवीनता की मात्रा कितनी भी बढ़ती चले पर ये तीन सदा एक रस साथ साथ बढ़ते रहेंगे। कथावस्तु से नाटक के आख्यान, घटना वा व्यापार के उस स्वरूप से तात्पर्य है, जो नाटककार ने मूल आख्यान आदि को अपनी रचना-नैपुण्य से दे दिया है, मूल आख्यानादि से नहीं है। यदि इस स्वरूप के देने में उसने विशेष कुशलता दिखलाई तो उसका नाटक भी सफल हो जायगा। कथावस्तु के व्यापारादि को पात्रों के अभिनय तथा कथोपकथन द्वारा ही दर्शकों को हृदयगम कराया जा सकता है और इन्हीं के द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण भी प्रदर्शित किया जाता है। यह चरित्र-चित्रण

दान को सत्य मानने में सत्यता की पराकाष्ठा दिखलाई गई है और आदर्श तो होते भी इतने उच्च हैं कि साधारण जीव आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। अलौकिक स्वप्न को सत्य बनाने के लिए प्रतिग्राही ऋषि सशरीर आते हैं, पर राजा हरिश्चंद्र का आदर्श महत्व अक्षुण्ण ही बना रहता है। तृतीय अंक का चंडकौशिक का अर्थोपक्षेपक सार्थ नहीं है, वह यदि हटा दिया जाय तो कथा विशृंखल नहीं होती पर भारतेंदु जी ने उसे राजा हरिश्चंद्र के आने का कारण तथा समाचार देकर सार्थक कर दिया है। चंड-कौशिक का चौथा तथा पाँचवाँ अंक मिलकर सत्यहरिश्चंद्र का चौथा अंक हुआ है। प्रथम में एक अन्य डोम राजा साहब के साथ बराबर रहता है और उसीके कहने से वह कर माँगने जाते हैं पर द्वितीय में ऐसा नहीं है। राजा हरिश्चंद्र स्वतः अपनी प्रेरणा से सब कार्य करते हैं। कारुण्य इतना अत्यधिक हो गया है कि इसमें धर्म के स्थान पर स्वयं साक्षात् भगवान आते हैं और इनको वरदान देते हैं। अंत में इंद्रादि सभी को एकत्र कर आपस में मिलाने तथा उभय पक्ष के मनोमालिन्य को मिटा देने से यह अधिक उपदेशप्रद हो गया है। सत्यहरिश्चंद्रकार का यही कथा-परिवर्तन उसे बहुत ऊँचे उठा ले गया है।

चंद्रावली नाटिका का वस्तु-संगठन प्रेम, विरह तथा मिलन तीन ही शब्दों में हुआ है और इसी क्रम से इतने सुशृंखलित रूप में गठित हुआ है कि कहीं उखड़ा-सा नहीं है। कथा-वैचित्र्य कुछ भी नहीं है पर है प्रेम का कँटीला मार्ग और उसकी महत्ता। पाठक या दर्शक अथ से इति तक उसे पढ़ता या देखता रहता है पर कभी ऊबता नहीं प्रत्युत प्रेम उसके हृदय पर इस प्रकार

वर्तमान थी। पर उनकी अन्य कृतियों से न्यून मात्र है और इसमें भी भारत की उन्नति के अनेक उपाय बतलाए गए हैं। नाटक भारत से उसकी दुर्दशा कहलाई गई है और अनिष्टकारक भारत-दुर्दैव है, जो भारतीयों के दुर्गुणों को, जिनके कारण वे आज सात शताब्दि से परतंत्रता का दुःख भोग रहे हैं, अपने सैनिकों के रूप में भारत में उपद्रव मचाने को भेजता है। ये सब अपनी अपनी कृति को अलग अलग बतलाते हैं। भारत की इस दुर्गति को रोकने तथा उन्नति करने के लिए कमीटी बनाई जाती है पर सब देखते हुए अंत में कवि निराश ही रहता है। बंगाली के कथन में, विमान से मोज नहर पाटना आदि में, वह तत्कालीन बतलाए जाने वाले उन्नति के उपायों को हास्यास्पद समझता है। नाटककार ने इस प्रकार देश के प्रति अपने भावों तथा विचारों को सफलतापूर्वक नाटक में व्यक्त किया है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में वस्तु-संगठन अधिक नहीं है। धर्म की ओट में लोग किस प्रकार हिंसा, व्यभिचार आदि अकार्य करते हैं, यही दिखलाने के लिए एक राजा और उनके मंत्री, पुरोहित आदि की कल्पना की गई है। इन्हीं के द्वारा शास्त्रों के टुकड़े लेकर इन सब कुकार्यों का समर्थन कराया गया है और ऐसे लोग किस प्रकार ऐसा करते हुए भी संसार में धर्म का दंभ दिखलाते हैं, यह भी बतलाया गया है। अंत में ऐसे कार्यों का क्या पुरस्कार मिलता है, यह भी प्रदर्शित कर दिया गया है। यह नाटक मद्य मांस आदि का विरोध करते हुए ही लिखा गया है और उसे अच्छी प्रकार व्यक्त कर रहा है।

इस प्रकार देखा जाता है कि भारतेन्दु जी कथावस्तु के संगठन में

अत्यंत सफल हुए हैं। व्यापार की कमी होते भी वस्तु के संगठन मे कहीं शिथिलता नहीं आने पाई है। चरित्र-चित्रण पर भी कुछ नाटकों ही को लेकर विवेचना कर लेना अलं होगा।

चरित्र-चित्रण

सत्यहरिश्चंद्र के दो प्रधान पात्र सत्यवीर महाराज हरिश्चंद्र और क्रोधी मुनि विश्वामित्र हैं। एक की सत्यप्रियता, विवेक, दानशक्ति, शील-सौजन्य, क्षमा आदि गुणों पर ईर्ष्या कर उसे इन सबसे च्युत करने का दूसरा सतत प्रयत्न करता है। एक अपने उच्चतम वंश के गौरव तथा आत्माभिमान को न भूलकर और सहज क्षात्रधर्म तथा सत्यव्रत के सच्चे दर्प को न खोकर उस पथ से न विचलित होते हुए सभी विघ्न-बाधाओं को रौंदता हुआ निरभिमान आगे बढ़ता चलता है और दूसरा अपनी षड्यंत्र-कारिणी तथा अनिष्ट-कारिणी बुद्धि ऐसी रुकावटें उपस्थित करने में लगाता रहता है। कुशल नाटककार कथावस्तु को इस प्रकार आरंभ से अंत तक घटनावली द्वारा गठित करता गया है कि दर्शकों की ज्यों ज्यों सहानुभूति एक पक्ष की ओर बढ़ती है, त्यों त्यों प्रतिपक्षी की ओर उनकी घोर अश्रद्धा तथा घृणा बढ़ती जाती है। अलौकिक शक्ति-सपन्न ऋषि स्वप्न मे राजा हरिश्चंद्र से स्वयं पृथ्वी दान ले लेते हैं, किसलिए? साधारणतः मानव-प्रकृति स्वप्न की बात को असत्य मानती है और यदि राजा हरिश्चंद्र भी वैसा ही मान लेते तो वे प्रथम परीक्षा मे, इस षड्यंत्र मे पडकर, अनुत्तीर्ण हो जाते पर ऐसा नहीं हुआ। तब ऋषिजी साक्षात् क्रोध के अवतार बने हुए आए और कुल राज्य ले लेने पर भी दक्षिणा के बहाने उन्हें सस्त्रीक बिकने पर बाध्य किया। इस क्रोधी ब्राह्मण से दान

चुकता कर देने पर भी छुटकारा नहीं मिलता। वह राज्य, स्त्री, पुत्र तथा शारीरिक स्वातंत्र्य खोकर भी सत्यव्रत, सौम्यता, ईश्वर-भक्ति और प्रतिपक्षी के प्रति सुजनता नहीं त्यागते। पुत्र रोहिताश्व के शव को अपनी त्यक्ता प्रिय पत्नी की गोद में देखकर भी वे स्वधर्म से च्युत नहीं होते। बिकी हुई शरीर को तथा उसे मिले हुए सांसारिक ऐश्वर्य को स्वामी का मानकर स्वामिधर्म की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है। आदर्श सत्यवीर सम्राट् के सभी कार्य आदर्श थे। दान देने में असमर्थ पाकर दानवीर को कितनी मार्मिक व्यथा होती है, यह भी एक ही वाक्य में कितनी सुंदरता से दिखला दिया गया है। इन महानुभाव के चरित्र-चित्रण में कवि संस्कृत नाटककारों से भी अधिक सफल हुए हैं।

इंद्र द्वारा प्रेरित प्रतिनायक विश्वामित्र क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि की प्रतिमूर्ति से हो उठे हैं। वह यथाशक्ति तीव्र से तीव्र आघात छोड़कर राजा हरिश्चंद्र को विचलित करने का निरंतर प्रयास करते रहे पर अंत में फल उलटा होता है। नायक के लोकोत्तर गुणों का असर क्रमशः प्रतिनायक पर होता चलता है और अन्त में वह उसके प्रति पूर्ण श्रद्धालु हो उठते हैं। यह क्रमिक परिवर्तन अत्यंत स्वाभाविक हुआ है। इंद्र की भी ईर्ष्या अंत में श्रद्धा में परिणत हो गई। सत्यहरिश्चंद्र के अन्य पात्रों में मुख्य महारानी शैव्या का चरित्र भी नाटककार ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। सहज स्त्री-सुलभ लज्जा, संकोच, पति के प्रति दृढ़ विश्वास तथा श्रद्धा उसकी एक एक बात से प्रगट करती है। उसका पति सम्राट् से चांडाल-दास हो गया और वह भी अपने निस्सहाय व [illegible] पर पुत्र-शोकसंतप्ता होने पर भी उसके मुख से एक

भी शब्द पति के विरुद्ध नहीं निकला। दोनों अवस्था मे पति के साथ उसका समान व्यवहार रहा। उपाध्याय के प्रश्न पर अपने पति को ऐसी दुरवस्था में दिखला कर नीचे दृष्टि कर लेने मे कितनी व्यथा भरी है पर गूदड़ी का लाल फिर भी लाल ही था। महारानी शैव्या आदर्श स्त्री-रत्न थीं और वैसी ही चित्रित हुई हैं।

चंद्रावली नाटिका की नायिका श्रीचंद्रावलीजी निष्काम प्रेम की प्रतिमूर्ति है। श्रीकृष्ण के बाल-सुलभ सौदर्य, चांचल्य तथा गुणों को सुनकर पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, देखने सुनने से वह प्रेम मे परिणत हो जाता है और अंत मे वह नहीं छिपता। सखियाँ जान जाती हैं और प्रश्न होते हैं। विरह-कष्ट बढ़ता है और विरहिणी एकांत मे प्रलाप करती है, जिससे विरह की सभी अवस्था लक्षित होती है। स्वयं विरह-कष्ट सहते हुए भी जब वह दर्पण में अपना मुख देखती हैं और उसे पीला पाती है तो वह ईश्वर से यही मनाती है कि उसके प्रिय श्रीकृष्ण उससे प्रेम न करके इस प्रकार की विरह-यातना भोगने से बच जायँ, वह चाहे चिरकाल तक कष्ट भोगे। कितनी निरीहता तथा सच्चा प्रेम इससे प्रकट होता है। उसके कष्ट का अदाज तो उसके दो एक दिन के प्रलाप ही से व्यक्त हो रहा है। प्रेम मे माहात्म्य-ज्ञान नहीं रहता और माहात्म्य-ज्ञान के साथ प्रेम का नहीं, श्रद्धा का मेल खाता है पर चद्रावलीजी मे माहात्म्य-ज्ञान के साथ पूर्ण आसक्ति है। 'प्रेमियों के मडल को पवित्र करने वाली' श्रीचद्रावलीजी का चरित्र बहुत ही सुदर चित्रित हुआ है।

भारत-दुर्दशा मे भारत-दुर्दैव तथा भारत-भाग्य नायक प्रति-नायक हैं। भारत पराधीन हो गया है और स्वाधीनता के नाश होने

के कारण एक ओर दुर्दैव और दूसरी ओर उसकी रक्षा के प्रयास भाग्य हैं। इन्हीं को लेकर इन दोनों पात्रों का भावमय सृजन हुआ है। भारत-दुर्दैव का चित्रण अच्छा हुआ है और उससे तत्कालीन देश-दशा का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसके प्रयासों के रूप में भारतीयों के दुर्गुण बड़ी मार्मिकता से दिखलाए गए हैं। सेनापति सत्यानाश ने धर्म की ओट में होते सामाजिक दोषों पर खूब चुटकियाँ ली हैं। अन्य सैनिकगण—अपव्यय, फूट, कचहरी आदि दोष जमे हुए हैं। रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि भेजे जाते हैं और इन सबका भी उन्हीं के अनुरूप चित्रण हुआ है। इन सबका समष्टि रूप मे यही फल हुआ कि दुर्दैव सफल हुआ। भारत-भाग्य प्राचीन भारत के गौरव, वर्तमान की दुर्दशा तथा भविष्य के लिए भारतीयों की पंगुता का वर्णन करता है, पर साथ ही कुछ आशा का भी संचार है।

नीलदेवी मे नायक सूर्यदेव सच्चा राजपूत वीर है, वह सन्मुख युद्ध ही जानता है, रात्रि का चौर-युद्ध नहीं जानता और इसीसे धोखा खाकर कैद होता है तथा धर्म के लिए प्राण देता है। प्रति-नायक शरीफ अवसर का बंदा है, रात्रि में डाका डाल-कर प्रतिद्वंद्वी को कैद करता है और जशन मनाता है। क्षुद्राशयगण कितना हाँ में हाँ मिलाते हैं और ऐसी नीच कृति का धर्म के ठेकेदार समर्थन करते हैं, यह भी अच्छा चित्रित किया गया है। रानी नीलदेवी यह सब समाचार पाती है और पति का बदला तथा सती होने के लिए उसका शव लेने के लिए षड्यंत्र रचती है और उसमें वह सफल होती है। बड़ी वीरता तथा निर्भयता से वह आततायी के डेरे पर जाती है और उसे मारकर

पति के शव के साथ सती हो जाती है। इस नाटक में हास्य की अच्छी अवतारणा हुई है। पागल का प्रलाप पढ़कर या सुनकर हँसी रुकती नही. कायरों की डींगे तथा उनकी बातों में भी बरबस हँसी आ जाती है। प्रहसन अंधेरनगरी मे हँसी विनोद का सामान काफी है पर चरित्र-चित्रण के नाते उसमें और गुंजाइश नहीं है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में धर्म की आड़ में मद्य-मांस सेवन की हँसी उड़ाई गई है। गृध्रराज, पुरोहित, शैव-वैष्णव, मंत्री. गंडकीदास आदि सभी हैं और इनके चरित्र-चित्रों की साधारण रूपरेखा खींची गई है. पर हैं वे सब सजीव। स्थाना-भाव होते भी वे अस्पष्ट और निर्जीव नहीं हो पाए हैं। इनके अन्य मौलिक पर अपूर्ण नाटकों में प्रेमयोगिनी तथा सती सावित्री हैं। प्रथम में काशी के मंदिरों मे नित्य जानेवाले बगुला-भक्तों. दलाल. गंगापुत्र, भोजन भट्ट ब्राह्मण, गुंडों आदि के छोटे छोटे पर अत्यंत स्पष्ट चित्र अंकित हुए हैं. जिनका आज भी प्रायः उसी रूप मे दर्शन मिलता रहता है। सती सावित्री में सत्यवान नायक तथा नायिका सावित्री है। दोनों मे एक दूसरे को देखने से प्रेम उत्पन्न होता है और सावित्री उसको मनसा वरण कर लेती है। उसकी बातों से उसका शुद्ध पातिव्रत्य दिखलाते हुए माता-पिता की आज्ञा की भी मान्यता बतलाई गई है। सत्यवान का चित्रण भी सावित्री के पति के उपयुक्त किया गया है। इस प्रकार विवेचना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतेंदु जी चरित्र-चित्रण में विशेष सफल हुए हैं।

इस कार्य में भारतेंदुजी को सहज स्वाभाविक सफलता मिली

है। यह स्वभाव ही से अत्यंत वाचाल थे और समाज-प्रिय थे।

कथोपकथन

हर एक प्रकार के लोगों से, महाराजाओं से दरिद्री तक, पारंगत विद्वानों से लेकर मूर्खों तक यह मिला करते थे और इनका निज का दरबार लगा रहता था। इन कारणों से बातचीत करने तथा उत्तर-प्रत्युत्तर में यह बड़े कुशल थे। इन सबका इनके नाटकों मे सफलतापूर्वक उपयोग हुआ है। इनके कथोपकथन दो चार स्थलों को छोड़कर कहीं भी व्यर्थ के लंबे नहीं हुए हैं और न परिश्रम कर इन्हें गढ़ना ही पड़ा है, जिससे वे स्वच्छंद तथा सजीव हैं और गंभीरता से लदे हुए नहीं होने पाए हैं। इन्होंने अपनी वाक्यावली को काव्यालंकारों से लादने का भी कहीं प्रयास नहीं किया है और बिलकुल बोलचाल की भाषा पात्रों के अनुकूल रखी है। विरहिणी चंद्रावली की विरह-गाथा, शैव्या का विलाप और भारत का रोना यद्यपि बहुत बढ़ गए हैं पर वे स्थिति-विशेष के कारण ही हुए हैं।

स्वमातृभाषा-प्रेमी भारतेंदुजी ने अभारतीय शब्दों का अकारण भरमार कर हठधर्मी से बनी हुई खिचड़ी भाषा का

भाषा

समर्थन न कर जिस परिष्कृत तथा परिमार्जित भाषा को अपनी प्रतिभा, लेखन-कौशल तथा सतत उद्योग से प्रचलित किया था, वही आज की वर्तमान राष्ट्रभाषा हिंदी है, जिसके आदि प्रवर्तक या जन्म-दाता वही कहे जाते हैं। इनके इसी भाषा-संस्कार के कारण इन्हें उक्त पदवियाँ दी गई थीं। इनका यह भी हठ न था कि पीढ़ी दर-पीढ़ी 'सैंकल' करते उसे संस्कृत सी जटिल बना दी जाय।

इनकी भाषा में दो या उससे अधिक शैलियाँ मिलती हैं। कहीं गंभीर विषयों को लेकर गांभीर्य से लदी हुई तुली शब्द-योजना है तो कहीं परिहास, व्यंग्य आदि मे चलती फिरती वाक्यावली दी गई है। ऐसा परिवर्तन स्वभावतः भी होता चलता है पर ऐसे भी लोग होते हैं जो हँसना रोना भी कोषों ही की सहायता से प्रकट कर सकते हैं। भारतेंदु जी इस प्रकृति के न थे और न उनके पास इतने अध्यवसाय के लिए समय था।

सत्यहरिश्चंद्र में रोहिताश्व की मृत्यु पर महारानी शैव्या विलाप करती हैं। 'हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया! हाय, मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय, अब मैं किसका मुख देख के जीऊँगी! हाय, मेरी अंधी को लकड़ी कौन छीन ले गया! हाय, मेरा ऐसा सुंदर खिलौना किसने तोड़ डाला! अरे बेटा! तैं तो मरे पर भी सुंदर लगता है।' छोटे छोटे वाक्य सरल बोलचाल की भाषा मे अत्यंत स्वाभाविक रूप में रखे गए हैं, जिनसे करुणा उमड़ी पड़ती है। 'अरे रे, यह कौन महा भयंकर भेष अंग मे भभूत पोते, एड़ी तक जटा लटकाए, लाल लाल आँख निकाले साक्षात् काल की भाँति त्रिशूल घुमाता चला आता है। प्राण, तुम्हें जो अपनी रक्षा करनी हो तो भागो पाताल मे अब इस समय मे भूमंडल में तुम्हारा ठिकाना लगना कठिन ही है। इस शब्द-योजना तथा वाक्यों से भय आप ही आप टपका पड़ता है। सावित्री सखियों के समझाने पर आवेश मे कहती है 'निवृत्त करोगी? धर्म-पथ से? सत्य प्रेम से? और इसी शरीर मे? छोटे छोटे शब्द सुननेवालों के हृदय पर चोट पर चोट करते हुए वक्ता के हृदय की गहराई में स्थित प्रेम की

सत्यता प्रकट कर रहे हैं। 'कोई सुख से बैठी झूले की ठंढी ठंढी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेंग मारती है, कोई गाती है, कोई डरकर दूसरी के गले मे लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगंद देती है पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।' सुगम सुबोध शब्दों में झूलन का चित्र खींच दिया है। "हहा! एक पोस्ती ने कहा, 'पोस्ती ने पी पोस्त' नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी तो या कुंडी के उस पार या इस पार ठीक है।' कैसा सुंदर परिहास है और उसी के उपयुक्त भाषा भी है।

इस प्रकार के बहुत से उद्धरण दिए जा सकते हैं पर इतने ही से ज्ञात हो जाता है कि यह भाषा को जटिलता, दुर्बोधता आदि से बचाकर सरलता तथा सुगमता की ही ओर लाते थे। इनकी भाषा इनके भावों को विकसित करते हुए मार्मिकता से उन्हें स्पष्ट कर श्रोता तथा दर्शकों को हृदयंगम करा देती थी। सुगम प्रचलित फारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि के शब्द इनकी भाषा में बराबर मिलते हैं और मुहावरों का तो ऐसा प्रयोग स्थान स्थान पर किया है कि इनके भाव खिल उठे हैं। इनकी भाषा में इन कारणों से वह प्रवाह, चलतापन तथा सजीवता आ गई है कि पढ़ते ही बनता है।

भारतेंदु जी के नाटकों मे कविता का बहुत बड़ा अंश आ गया है पर है वह प्रायः सब ब्रजभाषा मे। इस परंपरा की काव्य-भाषा के परिष्करण मे भी इन्होंने बहुत प्रयत्न किया है और उसकी सफलता का यह बडा प्रमाण है कि इनकी कविता इन्हीं के समय

विद्वानों तथा जन साधारण में लोकप्रिय हो गई थी। प्राचीनता के कारण ब्रजभाषा में आई हुई दुरूहता, शब्दों के तोड़ मरोड़ से उसकी रूप-विकृति आदि को दूर कर इन्होंने अपनी काव्य-भाषा में सुबोधता, प्रसाद गुण आदि लाकर उसे ऐसा सुव्यवस्थित शिष्ट निखरा हुआ रूप दिया है कि इनके बाद के कवियों ने उससे बराबर लाभ उठाया। सौकुमार्य के साथ इनकी भाषा में नैसर्गिक सरल प्रवाह था, जिससे इनकी काव्यधारा अत्यंत सुंदर, निर्मल तथा कर्ण-मधुर होती थी। समान रूपेण सभी भावों को इनकी भाषा व्यक्त कर सकती थी और काव्य के अलंकरण आप से आप बिना प्रयास के प्रस्फुटित होते चलते थे। उर्दू के ज्ञाता तथा कवि होने के कारण उसकी स्वच्छंदता तथा सजीवता भी इनकी भाषा में व्याप्त है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था और वह सदा इनके अनुकूल चलती रही।

भारतेंदु जी कहते हैं—'एक प्रेम है, एकहि प्रन है, हमरो एकहि बानो।' वास्तव में इनका प्रेम प्रधानतः ईश्वरोन्मुख अर्थात् अपने इष्टदेव गोपाल के प्रति और देश के प्रति था। इनकी सभी रचनाओं में यही प्रेम ओत-प्रोत है और इसके सिवा जो कुछ है वह भी इसी के लिए है। प्रेम वह मनोविकार है जो स्थायी रूप से जीव मात्र में रहता है और दर्शन, गुण-श्रवण आदि साधनों द्वारा उद्बुद्ध होकर प्रेमपात्र से विलग नहीं रहना चाहता। ऐसा यदि नहीं हो सकता तो प्रेमी को अति कष्ट होता है। प्रेम पारस्परिक तथा एकांगी दो प्रकार का होता है और साथ ही उत्तम मध्यम तथा अधम भी होता है। निस्वार्थ प्रथम है तो स्वार्थयुक्त अंतिम

प्रेम-सिद्धांत

है और अकारण प्रेम, मित्रता आदि मध्यम है। प्रेम व्यापक शब्द है, जिसके अंतर्गत वात्सल्य स्नेह, देश-प्रेम, ईश्वर प्रति भक्ति आदि सभी आ जाते हैं। मौलिक नाटकों में भारतेंदु जी ने शुद्ध शृंगारमय प्रेम का बहुत ही कम वर्णन किया है। उनमें केवल ईश्वरोन्मुख प्रेम तथा देश-प्रेम ही का बोलबाला है।

चंद्रावली नाटिका में परमहंस परमभक्त श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि 'जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादि अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त मे आते ही संसार का निगड़ आपसे आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली।' कैसे मिले! संसार तो वादों के फेर में उलझ रहा है। व्रज की गोपियों का 'कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बात मिलती हैं।' भारतेंदु जी ने इसीका इस नाटिका मे प्रदर्शन किया है। इसमें विरह ही प्रधान है, केवल अंत मे मिलन होता है। यह विरह-वर्णन इतना नैसर्गिक, हृदयग्राही और समवेदना-उत्पादक है कि इसको पढ-सुनकर ही लोग तन्मय हो जाते हैं। श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चपलता, सौंदर्य तथा गुण को सुनकर ही चंद्रावली मे पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, यही देखते-सुनते क्रमशः प्रेम मे परिणत हो जाता है और न मिलने से विरह बढता है। 'हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी', दूसरा उसे क्या समझ सकता है। विरह की सभी दशाएँ भोगती है, उन्मादिनी हो जाती है पर उसका निष्काम प्रेम अपना कष्ट

हैं, वह अवर्णनीय है। कहाँ राम-राज्य का गर्व और कहाँ वर्तमान की दुर्दशा पर क्षोभ। ऐसा यह नैराश्य-पूर्ण हृदय रखते हुए भी ईश्वर से स्वदेश की मंगल-कामना के लिए कवि कहता है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए ॥
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी संपति जानि इनहिं तुम रच्छ्यो तुरतहि धाई ॥
प्रलय काल सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी ॥
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्तबछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई।
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई ॥

कितना मार्मिक उपालंभ देते हुए यह कहा गया है कि अब तो मरणासन्न भारत की रक्षा कीजिए।

भारतेंदुजी ने समग्र भारतवासियों को संबोधित कर उनके देश की प्राचीन काल की अवस्था, मध्यकाल की परतंत्रता तथा अवनत अवस्था और वर्तमानकाल में अवसर पाकर भी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर न होने की कायरता को डंके की चोट वर्णन किया है। राष्ट्रभाषा की उन्नति करते हुए देश-सेवा के लिए सबको अनेक प्रकार से प्रोत्साहन देते रहे। इनका चरित्र तथा इनकी रचनाएँ सभी इस देशभक्ति के रंग से रँगी हुई हैं और इनकी यह ऐसी निजी विशेषता है कि यह हिंदी तथा हिंदुस्तान के इतिहास में अजर अमर हो गए हैं।

जाके जस की उज्ज्वल गाथा। गावत सब महि मंगल साथा॥
रही रुधिर जब आरज सीसा। ज्वलित अनल समान अवनीसा॥
जे कृष्ण बरन जब मधुर तान। करते अमृतोपम वेद गान॥
सब मोहत सब नर नारि वृंद। सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद॥

उक्त उद्धरण में 'कृष्ण बरन' कितना क्षोभपूर्ण और भाव गर्भित है। काला वर्ण देखकर घृणा करते हो, पर इन्हीं कृष्ण काय पुरुषों के दिग्विजय से किसी समय पृथ्वी थहरानी थी कपिलदेव, बुद्ध आदि इसी वर्ण के थे और भास, कालिदास माघ आदि काले कलूटे ही थे। इनकी विजय-यात्रा, उपदेश और काव्य काले ही अक्षरों में लिखे जाते हैं। पर आज क्या है—

भारत भाग न जात निहारे। थाप्यो पग ता सीस उघारे॥

सम्दुःख कातर साथियों को देखकर दुःखी कुछ धैर्य धारण करता है, यह प्रकृति है पर जब वे पुनः उन्नति कर लेते हैं तब तो उस निराश्रय का धैर्य ही छूट जाता है।

कहा करी तकसीर तिहारी। रे विधि रुष्ट याहि की बारी॥
सबै सुखी जग के नर-नारी। रे विधना भारतहि दुखारी॥

अंत में कवि इस न मिटनेवाले अपयश-पंक को धो डालने के लिए घबड़ाकर अंतिम उपाय कह उठता है।

तुम में जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु बेग करि तरल तरंगा॥
अहो भयानक भ्राता सागर। तुम तरंगनिधि अति बल-आगर॥
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई। देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥
धोवहु भारत अपजस पंका। मेटहु भारत भूमि कलंका॥

अयोध्या, चित्तौर, पंचनद आदि नामों के उल्लेख मात्र सच्चे मातृभूमि-भक्त के हृदय में किन किन भावों को उद्वेलित कर देते

मनमोहन तें बिछुरी जब सों
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचंद जू प्रेम के फंद परी
कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुख के दिन कों कोउ भाँति बितै
बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी
निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है और इसके चार भेद मुख्य हैं—युद्ध, धर्म, दान तथा दया। कर्मवीर, सत्यवीर आदि भी भेद माने जाते हैं। दो एक उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदा हीं।
जागत ही सब रहैं रैन हूँ सोअहिं नाहीं॥
कसे रहैं कटि राति दिवस सब बीर हमारे।
अस्व पीठ सों होहिं चारजामे जिनि न्यारे॥
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिं चखाई।
जो पै इक छनहू सनमुख है करहिं लराई॥

एक-एक शब्द से उत्साह छलक रहा है। भाषा में न शब्दों के तोड मरोड हैं, न दो दो तीन तीन अक्षरों का पिण्डीकरण है और न टवर्ग की भरमार है, तिसपर भी वीर-दर्प की कमी नहीं है।

तनहिं बेंचि दासी कहवाई। मरत स्वामि आयसु बिनु पाई॥
करु न अधर्म सोचु मन माहीं पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥

जिस शरीर को बेचकर दासी हुई है उसको बिना स्वामी की आज्ञा के नष्ट करना अधर्म है, यह समझ लो क्योंकि पराधीन के

लिए स्वप्न में भी सुख नहीं लिखा है। यह उक्ति सत्यवीर राजा हरिश्चंद्र की है और धर्म का कैसा यह मार्मिक व्यंजना है कि असह्य कष्ट पाते हुए भी वह मृत्यु-सुख नहीं उठा सकता।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। सत्यहरिश्चंद्र इसके उदाहरणों से भरा हुआ है। राजा हरिश्चंद्र पुत्र की अवस्था का विचार कर शोक कर रहे हैं।

जेहि सहसन परिचारिका राखत हाथहि हाथ।
सो तुम लोटत धूरि में दास-बालकन साथ॥

स्मृति, ग्लानि आदि के कारण शोक उमड़ा पड़ रहा है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। भीमसेन दुःशासन के प्रति क्रोध के कारण कहते हैं—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुःशासन केरो।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो॥
ताही कर सों कृष्णा की वेनी बँधवाइ
भीमसेन ही सो बदलो लैहे चुकवाइ॥

एक एक शब्द से उग्रता, अमर्ष, व्यग्य प्रकट हो रहे हैं भयानक का भय तथा वीभत्स का जुगुप्सा स्थायी भाव हैं जिनके उदाहरण सत्यहरिश्चंद्र के स्मशान-वर्णन में काफी दिए हुए हैं उसी नाटक में तथा अन्य में भी अद्भुत रस प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसका स्थायी भाव आश्चर्य है। राजा हरिश्चंद्र को जब कापालिक रसेंद्र दे रहा था, तब उनके इस कथन पर कि जब दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले स्वामी का है, क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना स्वत्व बेंच चुका।' वह आश्चर्य चकित होकर कह उठा—

चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
पै वीरन के मन कबहुँ चलहि नहीं ललचाय॥

शांत रस का स्थायी भाव शम है। चंद्रावली नाटिका के आरंभ में नारदजी के प्रश्न पर शुकदेवजी ब्रजभूमि के विषय मे कहते हैं—

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामें सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख यह बर मुँह माँग्यो हरि दीजै॥

युगलमूर्ति श्रीराधाकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज मे रहते हुए उन्हीं की स्मृति मे भक्तगण प्रेमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि इनके नाटकों मे सभी रसों का परिपाक होता रहा है।

प्राकृतिक वर्णनों की कमी

देखा जाता है कि कुछ कविगण वाह्य-प्रकृति या शुद्ध प्रकृति की वर्णना मे अधिक प्रयास करते है और कुछ ने मानव-प्रकृति के वर्णन ही मे अपनी कविता सीमित रखी है। बहुत कम ऐसे कवि हुए है, जिन्होंने दोनों क्षेत्रो मे समान रूपेण कविता करने मे योग्यता दिखलाई है। ध्यान रखना चाहिए कि शुद्धप्रकृति-वर्णन भी मानव-हृदय पर उन प्राकृतिक दृश्यों के देखने से जो असर पडता है उसी के अनुकूल चलता है। एक ही दृश्य अनेक हृदयों पर अनेक रूप से असर डालता है और वे कवि-हृदय उन्हीं अनुभूत भावों के अनुसार ही वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य-जगत् मे प्राकृतिक दृश्यों का जो विधान

लिए स्वप्न में भी सुख नहीं लिखा है। यह उक्ति सत्यवीर राजा हरिश्चंद्र की है और धर्म की कैसी यह मार्मिक व्यंजना है कि असह्य कष्ट पाते हुए भी वह मृत्यु-सुख नहीं उठा सकते।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। सत्यहरिश्चंद्र इसके उदाहरणों से भरा हुआ है। राजा हरिश्चंद्र पुत्र की अवस्था का विचार कर शोक कर रहे हैं।

जेहि सहसन परिचारिका राखत हाथहिं हाथ।
सो तुम लोटत धूरि में दास-बालकन साथ॥

स्मृति, ग्लानि आदि के कारण शोक उमड़ा पड़ रहा है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। भीमसेन दुश्शासन के प्रति क्रोध के कारण कहते हैं—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुश्शासन केरो।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो॥
ताही कर सों कृष्णा की बेनी बँधवाई।
भीमसेन ही सों बदलो लैहै चुकवाई॥

एक एक शब्द से उग्रता, अमर्ष, व्यंग्य प्रकट हो रहे हैं। भयानक का भय तथा वीभत्स का जुगुप्सा स्थायी भाव है, जिनके उदाहरण सत्यहरिश्चंद्र के स्मशान-वर्णन मे काफी दिए हुए हैं। उसी नाटक मे तथा अन्य मे भी अद्भुत रस प्रचुर मात्रा मे आया है। इसका स्थायी भाव आश्चर्य है। राजा हरिश्चंद्र को जब कापालिक रसेंद्र दे रहा था, तब उनके इस कथन पर कि 'जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था मे मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है, क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना स्वत्व मात्र बेंच चुका।' वह आश्चर्य चकित होकर कह उठा—

चलै मेरु वरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
पै वीरन के मन कबहुँ चलहिं नहीं ललचाय॥

शांत रस का स्थायी भाव शम है। चंद्रावली नाटिका के आरंभ में नारदजी के प्रश्न पर शुकदेवजी व्रजभूमि के विषय में कहते हैं—

व्रज के लता पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख यह वर मुँह माँग्यो हरि दीजै॥

युगलमूर्ति श्रीराधाकृष्ण की लीलाभूमि व्रज मे रहते हुए उन्हीं की स्मृति मे भक्तगण प्रेमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि इनके नाटकों मे सभी रसों का परिपाक होता रहा है।

प्राकृतिक वर्णनों की कमी

देखा जाता है कि कुछ कविगण वाह्य-प्रकृति या शुद्ध प्रकृति की वर्णना मे अधिक प्रयास करते हैं और कुछ ने मानव-प्रकृति के वर्णन ही मे अपनी कविता सीमित रखी है। बहुत कम ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने दोनों क्षेत्रों मे समान रूपेण कविता करने मे योग्यता दिखलाई है। ध्यान रखना चाहिए कि शुद्धप्रकृति-वर्णन भी मानव-हृदय पर उन प्राकृतिक दृश्यों के देखने से जो असर पड़ता है उसी के अनुकूल चलता है। एक ही दृश्य अनेक हृदयों पर अनेक रूप से असर डालता है और वे कवि-हृदय उन्हीं अनुभूत भावों के अनुसार ही वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य-जगत् में प्राकृतिक दृश्यों का जो विधान

फूलन कहूँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावन।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जल-कुक्कुट धावन॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहुँ बक ध्यान लगावन।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥

भारतेंदुजी प्रकृति ही से विनोदी तथा परिहास-प्रिय थे। यह गंभीर मुहर्रमी सूरतवाले नहीं थे और अनेक प्रकार के कष्टों के होते भी वह सदा प्रसन्नचित्त तथा प्रेम-मग्न रहते थे। इनमें जिंदादिली अर्थात् सजीवता पूरी मात्रा मे थी और इनकी रचनाओं में वह बराबर पाई जाती है। यही नाटकों के विषय में भी कहा जा सकता है परंतु कुछ नाटकों मे विशेप रूप से परिहास रखा गया है। यह परिहास इस रूप में नहीं है कि ऊपर से चिपके से मालूम हों या बलात् बीच में घुसेड़ दिए गए हों या केवल नाम, शब्द आदि को विकृत बनाकर श्रोताओं से जबरदस्ती हँसने के लिए कहने के समान हों। साथ ही ये कुरुचिपूर्ण भी नहीं हैं प्रत्युत् कुछ न कुछ सार्थक ही हैं, भर्ती मात्र नहीं है। नाटकीय कथावस्तु के अंग से होकर ये चलते हैं, कोरी हँसी के लिए प्राचीन विदूषक, पेटू भोजनभट्ट के समान व्यर्थ ही बीच मे नहीं भर दिए गए हैं। कर्पूर मंजरी का विदूपक भारतेंदुजी का कल्पित नहीं है, वह राजशेपर का है। अंधेर नगरी प्रहसन है और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति प्रहसन न होते भी परिहासमय है। नीलदेवी में भी परिहास काफी है। विद्या सुंदर, प्रेमयोगिनी तथा भारत दुर्दशा में भी हास्य के लिए उपयुक्त अवसर आप से आप बन गए हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इनके परिहास में भी

परिहास

देश-प्रेम छिपा चलता है. वह इसे उस समय भी नहीं भूल सके हैं। देखिए—

१. हिंदू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम॥
चूरन जब से हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥

२ दिल्लर पै निल्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥
धोती भी पहिरे जब कि कोई गैर पिन्हादे।
उमरा का हाथ पैर चलाना नहीं अच्छा॥

३. मोटा भाई बनाकर मूँड़ लिया। एक तो खुद ही सब पंडिया के ताऊ, उसपर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धायँ धायँ गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई गई, बस हाथी के खाए कैथ हो गए।

४. अदालती घूसखाजी पर शिष्ट व्यंग्य—चित्रगुप्त से मंत्रीजी कहते हैं—'आप मुझे एक बेर राज्य पर भेज दीजिए, मैंने जितना धन बड़ी बड़ी कठिनाई और बड़े-बड़े अधर्म से एकत्र किया है सब आपको भेंट करूँगा।'

वास्तव में अनुवाद उतना सुगम नहीं, जितना कुछ लोगों ने समझ रखा है। जब यह गद्य के लिए कहा जा सकता है, तब पद्य के लिए तो अवश्य ही दुरूह हो जाता है। मौलिक रचना से भी यह अधिक कष्टसाध्य है। भारतेंदुजी ने रत्नावली, पाखंड विडंबन धनंजय-विजय कर्पूर मंजरी तथा मुद्राराक्षस संस्कृत से और दुर्लभबंधु अँग्रेजी से अनुवाद किया है पर इनमें मौलिक से कम आनंद नहीं मिलता। मुद्राराक्षस के मंगलाचरण का प्रथम श्लोक है—

अनुवाद

अन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला, किन्तु नामैतदस्या ?
नामैं वास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुः कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु—
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥

इसका अनुवाद सवैया मे इस प्रकार है।

कौन है सीस पै ? चंद्रकला, कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी ?
हाँ यही नाम है, भूळ गई किमि जानत हूँ तुम प्रानपियारी ॥
नारिहि पूछत चंद्रहि नाहिं, कहै विजया यदि चंद्र लबारी।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी ॥

इतना सुंदर अनुवाद है कि दोनों, मूल तथा अनुवाद, बार बार पढ़ने योग्य हैं। इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं, जिनमें अनुवाद की गंध भी नहीं आती और मूल से भी बढ़कर आनंद मिलता है। इस प्रकार अनुवाद करना भारतेंदुजी को जन्मसिद्ध प्रतिभा और सिद्धहस्त काव्य-कौशल था। दुर्ल्लभ-बंधु अंग्रेजी से अनुवाद है और इसके पात्रों के नामों का अनुवाद भी कितना सुंदर है कि वह अनुवाद की कोटि मे न आकर मौलिक हो गया है। पोरशिया का पुरश्री, नेरिसा का नरश्री, बैसेनियो का वसंत आदि नामकरण अत्यंत सुंदर हुए हैं।

भारतेंदुजी ने स्वगत की बहुत कम योजना की है और यत्र तत्र जहाँ की भी है, वहाँ भी वह बहुत छोटी छोटी है। कहीं भी दो तीन पंक्ति से अधिक नहीं हुई है।

स्वगत

आधुनिक नाट्यकला-विशारद भी, तात्पर्य पाश्चात्य विद्वानों से हैं, इसे स्वाभाविक नहीं मानते और यह उचित भी है। ससार भर सुन ले पर बगल मे

खड़ा पात्र कान में उँगली डाले बिना ही उसे सुन न पावे सहज स्वाभाविक नहीं है। भारतेंदुजी के मौलिक नाटकों में व्यापार अधिक है भी नहीं और उन्होंने ऐसी परिस्थितियाँ बचाई हैं, जिनमे व्यर्थ के लंबे स्वगतों की आवश्यकता पड़े।

संस्कृत लक्षण ग्रंथों के अनुसार कुछ ऐसी बातें निर्धारित हो चुकी हैं, जिन्हें अभिनय अर्थात् नाटक में दिखलाना वर्ज्य है। भारतेंदुजी ने इन वर्जित अंशों को प्रायः नहीं आने दिया है क्योंकि इनके नाटकों के व्यापार अधिक जटिल हुए ही नहीं हैं और वे अभिनय के उपयुक्त भी बने हैं, जिससे अनभिनेय अंशों का अभाव है। किसी अंश के वर्ज्य होने का एक मुख्य कारण उसकी रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय किए जाने की कठिनाई है।

पंद्रहवाँ प्रकरण

भारतेंदु-काल के अन्य नाटककार

श्रीनिवासदास

लाला श्रीनिवासदास वैश्य का जन्म सं० १९०८ में हु
था। इन्होंने घर पर ही हिंदी, उर्दू, फारसी, संस्कृत औ
अंग्रेजी भाषाओं का अच्छा अभ्यास क
लिया था तथा निजी व्यापार में भी बड़े द
हो गए थे। इनकी योग्यता इतनी बढ़ गई थ
कि युवावस्था ही में यह म्यूनिसिपल कमिश्नर तथा ऑनरे
मैजिस्ट्रेट नियत हो गए थे। अनेक स्थानों पर कोठियाँ हो
के कारण भ्रमण करना आवश्यक हो गया था, जिससे इन्
सांसारिक अनुभव खूब हो गया था। यह मातृभाषा हिंदी क
साहित्य-सेवा में भी दत्तचित्त रहे। इन्होंने एक उपन्यास परीक्षा
गुरु तथा प्रह्लादचरित, तप्तासंवरण, संयोगता-स्वयंवर औ
रणधीर-प्रेममोहिनी चार नाटक लिखे थे। भारतेंदुजी से इनकी
घनिष्ट मित्रता थी और उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद सं० १९४
में इनकी भी मृत्यु हो गई।

इनके प्रथम नाटक प्रह्लादचरित्र में ११ दृश्य हैं। पहिले म

सनकादि आकर वैकुंठ के द्वारपाल जय-विजय को उन्हें रोकने के कारण शाप देते हैं। दूसरे में प्रह्लादजी हरिभजन करते हुए आते हैं और उनके माता-पिता पाठशाला में उन्हें पढ़ने को बिठाते हैं। तीसरे में पढ़ना अस्वीकार कर हरि-नाम जप करना ही अपना ध्येय बतलाने पर प्रह्लाद को गुरुजी हिरण्यकशिपु के पास ले जाते हैं, जो चौथे में इन्हें समझाता है पर इनके न मानने पर घातकों को इन्हें मार डालने की आज्ञा देता है। घातकों द्वारा मारा जाना, हाथी के नीचे कुचलवाना, विष देना, चिता पर जलाना और समुद्र में फेंकना इन पाँच प्रयासों की असफलता पाँचवें से नवें दृश्यों तक दिखलाई जाती है। दसवें में पिता पुत्र को पुनः समझाने का असफल प्रयास करता है और ग्यारहवें में जब वह स्वयं उसे मारना चाहता है तब नृसिंहजी अवतरित होकर उसे मार डालते हैं।

प्रह्लादोपाख्यान प्रसिद्ध है और नाटककार ने इसमें जो कुछ परिवर्तन यत्र तत्र किया है, वह कथावस्तु का उन्नायक नहीं हो सका है प्रत्युत् और भी शिथिल हो गया है। कथोपकथन अधिक हैं और हरि-नाम-जप का माहात्म्य दिखलाने का अत्यंत शिथिल प्रयास है। चरित्र-चित्रण तो कुछ भी नहीं हो सका है और भाषा में भी कुछ जोर नहीं है। नाट्यकला तथा अन्य सभी दृष्टि से यह नाटक यहाँ तक सफल नहीं हो सका है कि नाटककार स्वयं इसे अपनी रचना कहने में संकोच करते थे।

तप्तासंवरण पहिले सन् १८७४ ई० के १४ फरवरी तथा १५ मार्च के हरिश्चंद्र मैगजीन के दो अंकों में छपा था और सन् १८८३ ई० में प्रथम बार पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। नांदी

तथा प्रस्तावना के अनंतर प्रथम अंक में तप्ता तथा संवरण का साक्षात् मात्र होता है। दूसरे में दोनों में वातचीत होती है और गौतमजी आते हैं पर संवरण के प्रणामादि न करने से रुष्ट होकर उसे शाप देते हैं कि वह जिसके ध्यान में है, वही उसे भूल जाय। प्रार्थना करने पर आशीर्वाद देते हैं कि अंग-स्पर्श करने से यह शाप दूर हो जायगा। तीसरे में तप्ता सखियों सहित विरहिणी रूप में आती है, पत्र लिखती है, जोगिन बनती है पर संवरण के आने पर उसे नहीं पहिचानती। चौथे में मित्र सहित संवरण आता है और विरहाधिक्य में मूर्छित हो जाता है, तप्ता आती है और उसे अपना सा दुखी समझकर उसके मुख से वस्त्र हटाती है तथा अंग-स्पर्श से शाप मिट जाने से उसे पहिचान लेती है। पाँचवें में वशिष्टजी की कृपा से सूर्य भगवान प्रसन्न होकर आते हैं और स्वपुत्री तप्ता को संवरण को विवाह देते हैं।

इसमें शाकुंतल के शाप तथा पत्रलेखन का उपयोग किया गया है, नहीं तो कथावस्तु प्रायः नहीं के समान है। कथोपकथन और चरित्रचित्रण भी सुंदर नहीं बन पड़ा है और भाषा भी विशेष सुगठित नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रह्लादचरित से यह नाटक अच्छा है।

रणधीर-प्रेममोहिनी सं० १९३४ मे समाप्त होकर उसी वर्ष प्रथम वार सदादर्श प्रेस से प्रकाशित हुई थी। कलकत्ते से जो इसके संस्करण प्रायः तीस बत्तीस वर्ष बाद निकले उनमें नाटककार की भूमिका निकाल दी गई, जो डिमाई साइज़ के ग्यारह पृष्ठों मे थी। इसमे नाट्यकला पर ही अधिक लिखा गया है। नाटक पाँच अंकों मे बँटा है। पहिले और तीसरे मे पाँच पाँच तथा दूसरे

ज्ञात होती और साथ ही लेखक के अनुभव तथा व्यवहार-कौशल का द्योतन करती हैं।

इस नाटक में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण प्रधानतः किया गया है पर साथ साथ नवीनता भी मिली हुई है और अभिनय भी इसका कुछ हेर फेर के साथ सफलता के साथ हो सकता है। लालाजी के नाटकों में यह सबसे अच्छा बन पड़ा है।

संयोगता-स्वयंवर लाला जी की अंतिम रचना है। इसमें प्रस्तावना तथा पाँच अंक हैं। क्रमशः प्रथम में तीन, द्वितीय में दो, तृतीय में दो, चतुर्थ में एक तथा पंचम में दो गर्भांक हैं। एक सोरठा तथा तीन दोहों में नांदी करने के अनंतर सूत्रधार आकर नाटक तथा नाटककार का परिचय देता है और प्रथम गर्भांक का आभास देता है। संयोगता कर्णाटकी के साथ आती है, जो पृथ्वीराज के यहाँ से आकर संयोगता के पास रहते हुए उसका प्रेम पृथ्वीराज के प्रति बढ़ाती रहती है। इसी गर्भांक में यह भी सूचना दी जाती है कि पृथ्वीराज की स्वर्णप्रतिमा के गले में वरमाला डाल दी गई है तथा उसका प्रेम भी उनके प्रति पूर्ण रूप से हो गया है। द्वितीय गर्भांक में जयचंद की सभा में चंद कवि पृथ्वीराज को सेवक-रूप में साथ लेकर आता है और वहाँ दोनों में कहा-सुनी होती है। जयचंद पृथ्वीराज को कुछ कुछ पहिचान जाता है पर शंका निवारण करने को कर्णाटकी को बुलाता है। उससे भी शंका दूर न होकर बढ़ती है। तृतीय गर्भांक में चंद अपने डेरे में पृथ्वीराज से बातचीत करता है, कर्णाटकी आतिथ्य का सामान लेकर आती है और फिर जयचंद स्वयं आता है। वह पृथ्वीराज को पहिचानकर डेरे को घेर

यह निर्भयता के साथ दूर रहा और सच्चे मित्र तथा अनुचर के दुख-सुख मे सहचर रहते हुए भी दुष्ट मित्रों को हानि पहुँचाने की चेष्टा नहीं की। प्रेममोहिनी मे जो अनुराग रणधीर के प्रति उत्पन्न हुआ वह उत्तरोत्तर बढ़ता तथा दृढ़ होता गया और अंत मे वह उसी पर बलिदान भी हो गई। रिपुदमन मल ने संयोग-वश रणधीरसिंह से जो मित्रता स्थापित की उसे अंत तक अपने प्राण के साथ निबाहा। दुष्ट कर्मचारियों तथा लोभी मित्रों से सजग रहने की मंत्रणा देना, कुमार्ग की ओर चित्त न जाने देने का प्रयास करते रहना और अपने पिता के सामने उसका पक्ष ग्रहण करना मित्र के उपयुक्त ही कार्य थे। इतना कहा जा सकता है कि यदि रिपुदमनसिंह अपने पिता से खुल कर सब बाते समझाते तो स्यात् नाटक सुखांत हो जाता पर होना तो उसे दुखांत था। अनुचर जीवन की स्वामिभक्ति उसी प्रकार अंत तक दृढ़ रही जिस प्रकार सुखवासी लाल का लोभ और स्वामिद्रोह। तात्पर्य यह कि चरितचित्रण अच्छा किया गया है। कथोपकथन पात्रों के अनुकूल भाषा मे हुआ है और आवश्यकतानुसार उसमे आवेश, ओज, मृदुता आदि लाई गई है। कहीं कहीं व्यर्थ ही फारसी, अरबी के क्लिष्ट शब्दो का प्रयोग किया गया है और कहीं कहीं सरल संस्कृत शब्दों के अर्थ पाद टिप्पणी मे फारसी अरबी शब्दों मे दिए गए है। शंका होती है कि ऐसा इन भाषाओं मे अपना ज्ञान दिखलाने को किया गया होगा। मारवाडी भाषा का भी प्रयोग हुआ है और कुछ पद्य तथा गाने भी रखे गए हैं। एक बात उल्लेखनीय है कि नाटक मे सांसारिक अनुभव की बहुत सी बात इस प्रकार आ गई है, जो बलात् लाई गई नहीं

ज्ञात होती और साथ ही लेखक के अनुभव तथा व्यवहार-कौशल का द्योतन करती हैं।

इस नाटक में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण प्रधानतः किया गया है पर साथ साथ नवीनता भी मिली हुई है और अभिनय भी इसका कुछ हेर फेर के साथ सफलता के साथ हो सकता है। लालाजी के नाटकों में यह सबसे अच्छा बन पड़ा है।

संयोगता-स्वयंवर लाला जी की अंतिम रचना है। इसमें प्रस्तावना तथा पाँच अंक हैं। क्रमशः प्रथम में तीन, द्वितीय में दो, तृतीय में दो, चतुर्थ में एक तथा पंचम में दो गर्भांक हैं। एक सोरठा तथा तीन दोहों में नांदी करने के अनंतर सूत्रधार आकर नाटक तथा नाटककार का परिचय देता है और प्रथम गर्भांक का आभास देता है। संयोगता कर्णाटकी के साथ आती है, जो पृथ्वीराज के यहाँ से आकर संयोगता के पास रहते हुए उसका प्रेम पृथ्वीराज के प्रति बढ़ाती रहती है। इसी गर्भांक में यह भी सूचना दी जाती है कि पृथ्वीराज की स्वर्णप्रतिमा के गले में वरमाला डाल दी गई है तथा उसका प्रेम भी उनके प्रति पूर्ण रूप से हो गया है। द्वितीय गर्भांक में जयचंद की सभा में चंद कवि पृथ्वीराज को सेवक-रूप में साथ लेकर आता है और वहाँ दोनों में कहा-सुनी होती है। जयचंद पृथ्वीराज को कुछ कुछ पहिचान जाता है पर शंका निवारण करने को कर्णाटकी को बुलाता है। उससे भी शंका दूर न होकर बढ़ती है। तृतीय गर्भांक में चंद अपने डेरे में पृथ्वीराज से बातचीत करता है, कर्णाटकी आतिथ्य का सामान लेकर आती है और फिर जयचंद स्वयं आता है। वह पृथ्वीराज को पहिचानकर डेरे को घेर

लेने के लिए सेना भेजता है और पृथ्वीराज संयोगिता को उससे युद्ध करने के लिए आज्ञा देता है। द्वितीय अंक के दो गर्भांकों में संयोगता तथा पृथ्वीराज का परिचय और मिलन होता है। तृतीय अंक के प्रथम गर्भांक में पृथ्वीराज युद्ध की तैयारी करता है और द्वितीय में द्वंद्व-युद्ध तथा जयचंद की सेना का पराजय होता है। चतुर्थ अंक में एक गर्भांक है और उसमें पृथ्वीराज आकर संयोगता को लिवा जाता है। पाँचवें अंक के प्रथम गर्भांक में पृथ्वीराज जयचंद को समाचार देकर संयोगता के साथ दिल्ली जाने की तैयारी करता है और द्वितीय में जयचंद संयोगता के गांधर्व-विवाह कर लेने का समाचार पाकर लाचार हो उसे दानदहेज देकर बिदा करता है।

यह नाटक भाषा तथा नाट्यकला दोनों दृष्टि से शिथिल है। इतिहास की घटना में भी हेरफेर किया गया है। लाला साहब के समय संयोगता के स्वयंवर की घटना बिलकुल अनर्गल नहीं सिद्ध हो चुकी थी अतः इस संबंध में उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। तब भी यह नाटक अच्छा नहीं बन पड़ा है और उस समय भी इसकी कठोर आलोचना हो चुकी है।

लाला साहब ने रणधीर-प्रेममोहिनी को छोड़कर अपने अन्य तीनों नाटकों में प्राचीन प्रथानुसार प्रस्तावना दी है। रणधीर-प्रेममोहिनी की भूमिका में आपने यूरोपीय नाटकों का विशेष विवरण दिया है और उसीके प्रभाव से प्रस्तावना हटा दी गई है। स्वगत की योजना इस नाटक में दूसरों से कहीं अधिक है और इसमें कथोपकथन में बड़े लंबे लंबे भाषणों की भर्ती है। यद्यपि इन भाषणों में पढ़ने योग्य तथा अनुभव की बातें ही अधिक हैं पर

नाटक के लिए ये आवश्यक नहीं कहे जा सकते। भाषा के विषय में आप लिखते हैं कि 'रणधीर और प्रेममोहिनी के नाटक में दोनों की तरफदारी छोड़कर साधारण बोलचाल पर बरताव किया गया। हाँ कहीं बहुत जरूरत पड़ी तो दूसरी भाषा (फारसी) का सहज वचन लेकर काम चला लिया।' पात्रों की योग्यता के अनुसार भी यह भाषा में हेरफेर कर देते थे। उदाहरण लीजिए—

'जीवन—क्या मैं रणधीरसिंह से बेईमान हो जाऊँ। एक को मालिक बनाकर दूसरे की आस करूँ, झूठी मेहनत दिखलाकर मालिक को धोखा दूँ। मुझसे तो यह नहीं हो सकता. मैं तो सच्ची मेहनत भी नहीं जताया चाहता। जताऊँ क्या? जिसके अन्न से इस देह का पालन होता है उसके काम में यह देह को लगाना चाहिए।' सुखवासीलाल कहता है—'आज तो हमारे खुदावंद न्यामत शिकारगाह से एक नया पंछी लाए थे, देखें इसका क्या ढंग रहे। चौबेजी तो सवा पा घी के सीधे में निहाल हैं लेकिन हमारे दिल की ख्वाहिश कभी पूरी न हुई। हमारे बिरादरी लोग हजारों का फायदः उठाते हैं...... .....हर काम के आगाज में चंद दर चंद नुक्स नुमायाँ होते हैं मगर कोशिश व तनदेही करने से वह सब बआसानी रफ़ै हो सकते हैं।'

संयोगता-स्वयंवर में प्रायः शुद्ध हिंदी रखी गई है। पृथ्वीराज कहते हैं—'जयचद की अभिमानी मूर्ति मुझको अब तक प्रत्यक्ष सी दीख रही है। रे दुष्ट, जो तू मीन बनकर जल में छिप जायगा. पक्षी बनकर आकाश में उड़ जायगा अथवा सर्प बनकर भूमि में घुस जायगा तो भी आज तुझको जीता न छोड़ूँगा।'

लाला साहब कवि न थे और यत्र-तत्र जो कुछ कविता का

पात्र और ४२ स्त्री पात्र के सिवा और भी बहुत से साधारण पात्र पात्री गण हैं। इसमे भारत नायक और बदइकबालए-हिंद प्रतिनायक हैं। प्रतिनायक, नायक को नष्ट करने का निरंतर प्रयास करता है और नायक केवल दूसरे का आश्रय ग्रहण कर अपनी रक्षा करना चाहता है। अंत मे उसीका आश्रित होकर या अधीनता स्वीकार कर अपना सौभाग्य मनाता है। यही इस भारत-सौभाग्य की विशेषता है। यह नाटक भारतेदुजी के भारत-दुर्दशा की नकल पर बना है और इस पर भारत-जननी की छाया भी पड़ गई है। आशा-वादियों के लिए चाहे इस नाटक मे आशा की छाया कुछ मिल जाय पर जिस आशय से यह नाटक लिखा गया है, वह बिलकुल असफल रहा। इसे पढ़कर किसी भी भारतीय मे न प्राचीन गौरव के लिए गर्व, न मध्य की दशा के लिए शोच और न वर्तमान के लिए आशा का संचार होगा। भाषा भी आधी उर्दू सी है और बची बचाई में ग्रामीण, मारवाड़ी आदि के लंबे लंबे कथन भरे हैं। कविता मे भी उर्दू के गजल काफी हैं और हिंदी कविता मे आवश्यक सजीवता, ओज आदि नहीं है। पंचम अंक के तृतीय गर्भांक मे सभा होती है, जिसमे शुद्ध फारसी-अरबी भरी भाषा मे अठारह पृष्ठों मे व्याख्यान पर व्याख्यान दिए गए हैं। हिंदी के नाते एक स्थान पर पांच पंक्तियाँ एक 'ननई' से कहलाई गई हैं और अंत मे दो पृष्ठो मे एक ब्राह्मण से शुद्ध हिंदी बुलवाई गई है। साथ ही इस नाटक का खेलना भी असंभव सा है। यह नाटक वस्तु-संगठन, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण आदि सभी दृष्टि से अत्यंत शिथिल है और न किसी रस का पोषक ही बन सका है। प्रेमघनजी इस नाटक-रचना मे विफल रहे।

नाटकों में समावेश किया है, उसमें अधिकतर दूसरों की है। इनका एक पद लीजिए—

> रूप अनूप सबहि मिल लागै।
> परम मनोहर भागी सिहहु गिरजा गिन अनुरागै॥
> मुलको पूरन चंद्र सरिस लख मृग इव संग न लागै।
> कनकलता सम रूप आन निच वानर चरनन लागै॥
> कमला वाम नच कुँवर गन चरन कमल रस पागै॥

पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उपाध्याय का जन्म सं० १९१२ भाद्रपद कृष्ण ६ को मिर्जापुर में हुआ था। हिंदी, फारसी तथा अंग्रेजी की कुछ शिक्षा घर पर प्राप्त कर सं० १९२४ में स्कूल में भर्ती हुए पर तीन वर्ष बाद छोड़ दिया। इसके अनंतर गृह पर ही संस्कृत आदि का अध्ययन करते रहे। सं० १९२९ में इनका भारतेंदुजी से परिचय हुआ और यह क्रमशः उनके अंतरंग मित्र बन गए। इन्होंने मिर्जापुर में कई समाज स्थापित किए तथा आनंदकादंबिनी और नागरी-नीरद पत्र निकाले। इन्होंने बहुत सी कविता तथा गद्य-लेख लिखे, जिनमें कुछ पुस्तकाकार तथा कुछ इनके पत्रों में प्रकाशित हुए। इन्होंने भारत-सौभाग्य, प्रयागरामागमन, वारांगना-रहस्य तथा वृद्धविलाप चार नाटक लिखे हैं। इनकी मृत्यु फाल्गुन शु० १४ सं० १९७९ को हुई।

प्रेमघन

इन्होंने भारत-सौभाग्य नाटक छात्रों के कथन पर अभिनय के लिए सन् १८८८ ई० में लिखना आरंभ किया था और दूसरे वर्ष के अंत के साथ इसे समाप्त किया। उसी वर्ष यह इन्हीं के प्रेस में छपकर प्रकाशित हुआ। इसमें प्रस्तावना तथा छ अंक हैं। इसमें ५३ पुरुष

के अभिनय में एक अभिनेता के न आने पर भारतेंदुजी ने उसका पार्ट तुरंत याद कर स्वयं किया था। यह नाटक गद्य-पद्यमय है। मिश्र-बंधुविनोद में इनके रामचरितावली नाटक का भी उल्लेख है।

इनका जन्म फाल्गुन कृष्ण ५ सं० १६१५ को वृंदावन में हुआ था। इन्होंने गृह पर संस्कृत की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी। हरिश्चंद्र मैगजीन पढ़ने से इनमें हिंदी-प्रेम तथा

राधाचरण गोस्वामी

देश-सेवा की ओर प्रवृत्ति हुई। इन्होंने सं० १९३२ में 'कविकुल कौमुदी' सभा स्थापित की। इनके साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी लेख प्रभावजनक होते थे। सन् १८८३ ई० में लाहौर के भारतेंदु मासिक पत्र को यह वृंदावन से प्रकाशित करने लगे। आपने प्रायः दो सौ लेख तथा बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। समाचार पत्रों के बड़े प्रेमी थे और सभी का पूरा संग्रह रखते थे। नदिया के विद्वानों ने इन्हें सं० १९४७ में विद्यावागीश की पदवी दी थी। इनका देहांत रविवार २३ दिसंबर सन् १९२५ ई० को हुआ था।

राधाचरण जी ने सात आठ छोटे छोटे रूपक लिखे हैं, जिनमें एक सरोजिनी अनुवाद है और अन्य सब मौलिक हैं। छोटे छोटे आख्यान घटना आदि लेकर ये रचे गए हैं। सुदामा-दारिद्र्य-मोचन लेकर श्रीदामा नाटक लिखा गया है, जिसमें प्रस्तावना तथा पाँच दृश्य हैं। सती चंद्रावली में सात दृश्य हैं। प्रथम में दो देवांगना मंगलाचरण करती हैं, द्वितीय में कई युवतियाँ जल भरने आती हैं और उनमें से एक चंद्रावली शाहजादा अशरफ द्वारा पकड़ी जाती है। तृतीय में हिंदू रईस औरंगजेब से आकर प्रार्थी होते हैं कि वह छोड़ दी जाय पर उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं होती और

प्रयागरामागमन एक छोटा सा रूपक है, जो सं० १९६१ में प्रकाशित हुआ था। इसमें रामचंद्र का सस्त्रीक तथा सबंधु प्रयाग में भरद्वाज ऋषि का आतिथ्य-स्वीकार वर्णित है। वस्तु-संगठन की आवश्यकता ही नहीं थी और चरित्र-चित्रण के लिए विशेष स्थान न था पर जो कुछ था वह अच्छी प्रकार हुआ है। कथोपकथन में केवल सीताजी द्वारा ब्रजभाषा का प्रयोग खटकता है, क्या शुद्ध हिंदी अनुपयुक्त होती? कविता भी दी गई है और वह अच्छी है। यह रूपक पठनीय है। इन दो के सिवा प्रेमघनजी ने वारांगनारहस्य लिखा है, जो अधूरा रह गया है और वृद्धविलाप एक छोटी सी कृति है।

प्रेमघनजी 'गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने-वाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले—लेखक थे। ...... अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे।' यह होने पर भी व्यर्थ का आडंबर नहीं आ पाता था और इनके लेख विचारपूर्ण होते थे। लाला श्रीनिवासदास के संयोगता-स्वयंवर नाटक की इन्होंने विशद तथा कडी आलोचना की है पर स्वतः इनके नाटक उच्च कोटि के नहीं हो सके।

ईश्वरीप्रसाद

भारतेंदुजी के शिक्षक पं० ईश्वरीप्रसादजी तिवाडी के पुत्र पं० शीतलाप्रसादजी त्रिपाठी काशी के संस्कृत कॉलेज में साहित्य के प्रधान अध्यापक तथा प्रसिद्ध विद्वान थे। यह हिंदी व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे और प्राचीन लिपियों के पढ़ने में भी अत्यंत कुशल थे। इन्होंने जानकी-मंगल नाटक लिखा है, जिसका अभिनय भी हो चुका है। इसी

के अभिनय में एक अभिनेता के न आने पर भारतेंदुजी ने उसका पार्ट तुरंत यादकर स्वयं किया था। यह नाटक गद्य-पद्यमय है। मिश्र-बंधुविनोद मे इनके रामचरितावली नाटक का भी उल्लेख है।

इनका जन्म फाल्गुन कृष्ण ५ सं० १६१५ को वृंदावन में हुआ था। इन्होंने गृह पर संस्कृत की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी।

राधाचरण गोस्वामी

हरिश्चंद्र मैगजीन पढ़ने से इनमे हिंदी-प्रेम तथा देश-सेवा की ओर प्रवृत्ति हुई। इन्होंने सं० १६३२ मे 'कविकुल कौमुदी' सभा स्थापित की। इनके साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी लेख प्रभावजनक होते थे। सन् १८८३ ई० मे लाहौर के भारतेंदु मासिक पत्र को यह वृंदावन से प्रकाशित करने लगे। आपने प्रायः दो सौ लेख तथा बहुत सी पुस्तके लिखी हैं। समाचार पत्रों के बड़े प्रेमी थे और सभी का पूरा संग्रह रखते थे। नदिया के विद्वानों ने इन्हें सं० १६४७ मे विद्यावागीश की पदवी दी थी। इनका देहांत रवि-वार २३ दिसंबर सन् १६२५ ई० को हुआ था।

राधाचरण जी ने सात आठ छोटे छोटे रूपक लिखे हैं, जिनमे एक सरोजिनी अनुवाद है और अन्य सब मौलिक हैं। छोटे छोटे आख्यान, घटना आदि लेकर ये रचे गए हैं। सुदामा-दारिद्र्य-मोचन लेकर श्रीदामा नाटक लिखा गया है, जिसमे प्रस्तावना तथा पाँच दृश्य हैं। सती चंद्रावली मे सात दृश्य हैं। प्रथम मे दो देवा-गना मंगलाचरण करती हैं, द्वितीय मे कई युवतियाँ जल भरने आती हैं और उनमे से एक चंद्रावली शाहजादा अशरफ द्वारा पकड़ी जाती है। तृतीय मे हिंदू रईस औरंगजेब से आकर प्रार्थी होते हैं कि वह छोड़ दी जाय पर उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं होती और

अशरफ आकर कहता है कि वह खुशीसे उसकी स्त्री होना चाहती है। चौथे में चंद्रावली आत्महत्या का प्रयास करती है, पाँचवें में हिंदुओं का बलवा होता है, छठे में अशरफ के मारे जाने की सूचना के साथ औरंगजेब के क्रोध का प्रदर्शन है और अंतिम में चंद्रावली का स्वतः जलकर मरना दिखलाया गया है। यह दुखांत है और भाषा-भाव आदि की दृष्टि से बहुत अच्छा है। अमरसिंह राठौर ऐतिहासिक नाटक है और इसमें पंद्रह दृश्य हैं। प्रथम में दो वैतालिकों द्वारा मंगलाचरण कराकर नाटक आरंभ होता है। इसमें जोधपुर-नरेश गजसिंह के प्रथम पुत्र अमरसिंह का निर्वासन, शाहजहाँ द्वारा नागौर राज्य की जागीर-प्राप्ति और अंत में उसी दरबार में सलावत खाँ को मारकर मारे जाने की घटना दिखलाई गई है। मुसल्मानों की भाषा में उर्दूपन भरा है। नाटक वीर-रस प्रधान है पर तब भी उस वीर नायक के उपयुक्त नहीं बन पड़ा है। 'तन मन धन श्रीगोसाईं जी के अर्पण' नामक छोटा सा प्रहसन है, जिसमें दिखलाया गया है कि किस प्रकार दुराचारी गुरु लोग अंधभक्त शिष्यों की बहूबेटी की प्रतिष्ठा लूटने का प्रयत्न किया करते हैं। यह तेरह पृष्ठों में है और आठ दृश्यों में विभक्त है। इसमें पद्य एक भी नहीं है।

गोस्वामी जी सुकवि थे और गद्य-लेखन में भी अत्यन्त कुशल थे। भाषा पर अच्छा अधिकार था और प्रतिभा की भी कमी न थी। आपके निबंधों में गंभीरता रहती थी और भारतेन्दु जी के अनुकरण पर आपने भी अनेक विषयों पर रचनाएँ की हैं।

भरतपुर-नरेश बल्देवसिंह के भ्रातृप्पुत्र दुर्जनसाल के पुत्र कृष्णदेवशरण सिंह का उपनाम गोप था। काशी के बाईस

स्कूल में इनका भारतेंदु जी से परिचय हुआ और इनकी मित्रता ऐसी हुई कि अंत तक एक रस निभ गई। ब्रज-

गोप

भाषा में यह अच्छी कविता करते थे, जो हरिश्चंद्र मैगजीन तथा चंद्रिका में बराबर छपती थी। इन्होंने भारतेंदु जी की चंद्रावली नाटिका का ब्रजभाषा में रूपांतर किया था। इसी नाटक की चाल पर इन्होंने माधुरी रूपक लिखा है, जो बहुत दिनों तक भारतेंदु जी की कृति समझी जाती रही। इसमें विरह-कातरा माधुरी श्रीकृष्ण के वियोग में अपनी दशा का वर्णन करती है और अन्य सखी उसकी सहायता करती हैं। यह बहुत छोटा रूपक है और इसकी भाषा ब्रजभाषा-मिश्रित हिंदी है।

यह कायस्थ वैष्णव थे तथा श्रावण शुक्ल १० सं० १९०४ को इनका जन्म हुआ था। बी० ए० तक पढ़कर यह फतहगढ़ स्कूल के हेडमास्टर हो गए और फिर बनारस में इनकी

तोताराम

बदली हो गई। यहीं इन्होंने बँगला, गुजराती, महाराष्ट्री आदि का अध्ययन किया। सन् १८७७ ई० में नौकरी छोड़कर इन्होंने अलीगढ़ में प्रेस खोला और भारत-बंधु साप्ताहिक निकालने लगे। वहीं भाषा-संवर्द्धिनी सभा तथा लायल लाइब्रेरी स्थापित किया। यह हिंदी के प्रचार के लिए अंत तक प्रयत्नशील रहे। वाल्मीकीय रामायण का राम-रामायण के नाम से दोहे-चौपाइयों में अनुवाद कर रहे थे पर पूरा न हो सका। ७ दिसम्बर सन् १९०२ ई० को इनकी मृत्यु हुई।

इनका प्रथम नाटक कीर्तिकेतु सन् १८७४ ई० के हरिश्चंद्र मैगजीन में तथा बाद को चंद्रिका में क्रमशः प्रकाशित हुआ था।

प्रस्तावना में इन्होंने नाटक तथा नाटककार का उल्लेख नहीं किया है। कविता का इसमें आधिक्य है। प्रत्येक पात्र अपनी बातचीत में एक न एक दोहा या अन्य पद अवश्य कहता है। वस्तु-संगठन तथा चरित्रचित्रण दोनों ही शिथिल हैं। इसके अनंतर दूसरा नाटक केटो कृतांत लिखा, जो देखने में नहीं आया। आपकी कविता तथा गद्य दोनों ही साधारण कोटि के हैं और इसी कारण कथोपकथन में रोचकता का अभाव है।

बालकृष्ण भट्ट

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म आषाढ़ कृ० २ रविवार को सं० १९०१ में प्रयाग में हुआ था। इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था तक संस्कृत का अध्ययन किया। इसके अनंतर इन्होंने एक मिशन स्कूल में भर्ती होकर एंट्रेंस तक शिक्षा प्राप्त की। उसी स्कूल में कुछ दिन अध्यापन करने के बाद इन्होंने संस्कृत का अध्ययन तथा हिंदी साहित्य-सेवा आरंभ किया। कई वर्ष तक शिवराखन स्कूल के हेड पंडित रहने के अनंतर यह कायस्थ पाठशाला में प्रायः बीस वर्ष तक संस्कृत के प्रोफेसर का कार्य करते रहे। स्वदेशी आंदोलन के कारण इन्हें यह पद त्यागना पड़ा। सन् १८७७ ई० में इन्होंने हिंदी-प्रवर्धिनी सभा स्थापित की और वहीं से हिंदी-प्रदीप पत्रिका निकाली, जिसे बहुत दिनों तक घाटा उठाकर चलाया। इन्होंने बहुत से छोटे छोटे गद्य-प्रबंध, कई उपन्यास तथा चार पाँच नाटक लिखे। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शब्द सागर के यह भी एक संपादक रहे। इनकी मृत्यु श्रावण कृ० १३ सं० १९७१ सोम-वार को हुई। प्रयाग का भारतीभवन पुस्तकालय इन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

स्टेर्न—(Lawrence Sterne १७१३-१७६८) यॉर्क में पादरी का काम करते थे; रोगी रहते थे; आपकी रचनाओं में *ट्रिस्ट्राम शैंडी*, *ए सेंटिमेंटल जर्नी* नामक उपन्यास ध्यान देने योग्य हैं। दोनों रचनाएं आपके व्यक्तित्व से ओतप्रोत हैं। नवीनता की दृष्टि से आप स्मरणीय हैं।

स्ट्रेची—(Lytton Strachey १८८०-१९३२) प्रख्यात चरितलेखक, विदग्ध समालोचक।

स्पेंसर—(Edmund Spenser १५५२—१५९९) लंडन में उत्पन्न होकर आयर्लैंड में रहे और १५९९ में लंडन में मरे। इंग्लिश कविता के मार्गनिर्दर्शक; अनेक रचनाओं के बाद *फेयरी क्वीन* के द्वारा लब्धप्रतिष्ठ; इस पर उन्होंने २५ वर्ष काम किया था। यह महाकाव्य रूपकमय तथा लाक्षणिक है। इसके पात्र चारित्रिक तथा ऐतिहासिक दोनों प्रकार के हैं। उसका राजा आर्थर—जो फेयरी क्वीन से प्रेम करता है—महत्ता है, वह सब गुणों का मुखिया है, इसमें *अरिस्टोटल* के अनुसार अन्य सभी गुणों का समाहार है। इसी प्रकार आर्टेगल न्याय का अवतार है। *स्पेंसर* पराकोटि का संगीतज्ञ था, *फेयरी क्वीन* को रचकर वह संसार का श्रेष्ठ चित्रकार भी सिद्ध हुआ।

स्विफ्ट—(Jonathan Swift १६६७—१७४५) डब्लिन में उत्पन्न हो किल्केनी तथा ट्रिनिटी कालेज में दीक्षित हुए, अपने समय का धार्मिक समस्याओं तथा वादविवादों में सक्रिय भाग लेते थे, स्टेल्ला तथा वानेस्सा से प्रेम करते थे, आयरिश जनता से उन्हें हार्दिक प्रेम था अपनी प्रतिभा की दृष्टि से क्लासिकल युग के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे आप की रचनाओं में *ए टेल ऑफ टब*, *दि बैटल ऑफ दि बुक्स*, *जर्नल टु स्टैल्ला*, *ड्रेपियर्स लैटर्स*, *गुलिवर्स ट्रैवल्स*, *दि*

एग्ज़ामिनर आदि प्रसिद्ध हैं। आपकी सामान्य रचनाओं की संख्या सौ से ऊपर है।

हनुमन्नाटक—हनुमद्विरचित १४ अंकों का संस्कृत नाटक। पहले अंक में सीतास्वयंवर; दूसरे में रामजानकीविलाप, तीसरे में मारीचागमन; चौथे में सीताहरण; पाँचवें में बालिवध; छठे में लंका में हनुमान् को सीता के दर्शन और उनके द्वारा लंकाविजय; सातवें में सेतुबंध; आठवें में रावण का अंगद द्वारा अधिक्षेप; नवम में रावण का मंदोदरी तथा मंत्रियों द्वारा समझाया जाना; दसवें में जानकीप्रेम के लिए रावण का नानाविध प्रपंच रचना, ग्यारहवें में युद्धारंभ और कुंभकर्णहनन; बारहवें में लक्ष्मण का शक्ति द्वारा बींधा जाना और चौदहवें अंक में रामरावण के युद्ध के उपरांत श्रीराम की विजय का अभिनय है।

हार्डी—(Thomas Hardy १८४०-१९२८) डोर्सेट में उत्पन्न, शिल्पकार के रूप में दीक्षित, *हार्डी* कवि तथा उपन्यासकार के रूप में सम्मानित हुए हैं। आपकी नानामुखी प्रतिभा से *दि थ्री स्ट्रैंजर्स* (एक व्युत्पन्न कहानी), *दि डायनास्ट्स* (एक महाकाव्य की शैली का नाटक) जैसी विदग्ध रचनाओं की प्रसूति के साथ-साथ अत्यंत उत्कृष्ट कविता का स्रोत भी बहा है। साथ ही आप ने *अंडर दि ग्रीनवुड ट्री* (सुखी सुखांत कथा) और *दि रिटर्न ऑफ दि नेटिव* जैसी दुःखांत कथा भी लिखी हैं। १८६७ से १८७१ तक हार्डी कविता में संलग्न रहे, १८७१ और १८९६ के मध्य आप चित्रमय जगत् वाले उपन्यासों में होकर अपनी उत्कृष्टतम, चरित्रचित्रण तथा परिस्थितिसंबंधी औपन्यासिक रचनाओं में अवतीर्ण होते हैं, जिनमें *टेस*, *जूड दि ऑब्स्क्यूर* ध्यान देने योग्य हैं। १८९१ में अपने निबंध में आप ने बताया है कि उपन्यास रचना एक गंभीर

कला है; इसमें यथार्थ जीवन का प्रतिफलन होना वांछनीय है और एक उपन्यासकार भी ऐसा ही तत्त्वज्ञ कलाकार है जैसा कि एक अच्छे से अच्छा कवि।

हेड्डा गेब्लर—(Hedda Gabler) इब्सन रचित चार अंकों की ट्रैजेडी। जनरल गेब्लर की पुत्री हेड्डा का विवाह टेस्मान (Tesman) के साथ होता है। दोनों ६ मास की विवाहयात्रा के पश्चात् घर आते हैं; उनकी चची मिस टेस्मान उनका स्वागत करती है। उन दोनों के लिए उसने अपना जोड़ा हुआ धन व्यय करके उनका मन-चाहा मकान खरीद दिया है; इस काम में जज ब्रैक ने सहायता की है। आइलर्ट लोव्बोर्ग (Eilert Lovborg) मिस्टर एल्वस्टेड (Elvstead) के यहाँ ट्यूटर का काम करता है। वह अपने अतीत जीवन में दुराचारी और शराबी रहा था। मिस्टर एल्व-स्टेड शेरिफ होने के कारण बहुधा घर से बाहर रहते हैं। आइलर्ट लोव्बोर्ग ने उनकी अनुपस्थिति में उनकी पत्नी थेआ (Thea) से प्रेम कर लिया है; थेआ की संगति में आ उसने अपना आपा सुधार लिया है, अब वह पुस्तकें लिखता है; उसने अभी एक पुस्तक सभ्यता के इतिहास पर लिखी है—जिसका आशातीत आदर हुआ है। आज वह धन की आशा में एल्वस्टेड का घर छोड़ क्रिश्चियाना नगर में चला गया है। थेआ उसके बिना नहीं जी सकती। वह भी उसकी ढूँढ में वहीं आ पहुँची है। उधर हेड्डा और टेस्मान हाल ही यात्रा से लौटे हैं—थेआ आइलर्ट की ढूँढ में टेस्मान के यहाँ पहुँची, उसने टेस्मान को सुनाया कि उसके पति ने उसे आइलर्ट की खोज में भेजा है। टेस्मान आइलर्ट को मिलने के लिए पत्र लिखता है। हेड्डा थेआ के मनों को ताड़ जाती है और चुपके-चुपके उससे उनकी [illegible] से [illegible] लेती है। टेस्मान का भी कभी थेआ से प्रेम

रहा था । एक-दो दिन बाद जज ब्रेक टेस्मान को निमन्त्रण देता है । आइलर्ट भी वहाँ पहुँचता है, थेआ भी शाम को जा पहुँचती है । आइलर्ट हेड्डा को देख पहले झेंपता है, दोनों की बातें होती हैं; आइलर्ट और हेड्डा का पहले परस्पर प्रेम रह चुका है, आइलर्ट हेड्डा को टेस्मान के साथ प्रेमबन्धन में बँधा देख कुछ खोता है और हेड्डा को विवाह से पहली अपनी प्रणयलीला याद कराता है । ब्रेक ने भी जब से हेड्डा को देखा है, तभी से उस पर अपना आधा न्योछावर कर रखा है । हेड्डा उससे कुछ दूर रहती है । आइलर्ट को वह अतीत प्रणयलीला के उपहार में अपना पिस्टल देती है । टेस्मान ने प्रोफेसरी के लिए प्रार्थनापत्र भेज रखा था; आइलर्ट भी उसी विषय का पंडित है,-इसलिए दोनों में होड होने वाली है; इस बात से टेस्मान को दुःख है । टेस्मान और आइलर्ट दोनों ब्रेक के यहाँ निमन्त्रण पर जाते हैं । आइलर्ट अपनी नवीन रचना टेस्मान को सुनाता है; टेस्मान उसे सुन चकित रह जाता है; उसके मन में उस के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न होती है । शराबी आइलर्ट प्याले पर प्याले साफ करता है और बेहोश हो आधी रात के समय मादमाजल डायना के पास—जो उसकी प्रेमिकाओं में से एक है—जा पहुँचता है; जाते-जाते मार्ग में उसकी रचना का हस्तलेख गिर पड़ता है, टेस्मान छिप कर इसे उठा लेता है । आइलर्ट डायना से झगडता है; हाथापाई हो जाती है; पुलिस आती है; वह प्रातःकाल टेस्मान के पास आता है, हेड्डा के सामने उसकी थेआ से झपट होती है, वह दुखी हो चला जाता है; हेड्डा हस्तलेख को जला देती है, हस्तलेख के खोए जाने से आइलर्ट का मन टूट जाता है, जीवन उसके लिए दूभर हो जाता है; वह क्लेश के आवेश में आ हेड्डा द्वारा दी गई पिस्टल से डायना के घर जा आत्महत्या कर लेता है । जज ब्रेक उस पिस्टल को पहचान लेता है

और नीचा हेड्डा के पास जा उसे उसी के दिए पिस्तल द्वारा आइलर्ट की आत्महत्या का समाचार सुनाता है और बात को खोल देने की धमकी दे उसे अपने वश में करना चाहता है । थेआ भी रोती पीटती हेड्डा के पास पहुँचती है, बातों-बातों में उसे हस्तलेख के नोटों की बात—जो उसकी जेब में थे— याद आ जाती है । टेस्मान और थेआ उन नोटों को जोड़ आइलर्ट की रचना को पुनर्जीवित करने के प्रयास में व्यग्र हो जाते हैं । इस व्यग्रता में टेस्मान के मन में थेआ के प्रति प्रेम उग आता है । हेड्डा ब्रेक से दुःखी थी; टेस्मान की रिसर्चों से उसे जलन थी; आज टेस्मान थेआ के साथ मिलकर हेड्डा के अतीत प्रेमी आइलर्ट की रचना को पुनर्जीवित करने के लिए नई रिसर्च में लगा था—हेड्डा इन बातों को न सह सकी—उसने आवेश में आ आत्म-हत्या कर ली।

हेनरी एस्मंड—(Henry Esmond) थैकरे की सर्वश्रेष्ठ रचना—ऐतिहासिक उपन्यास, जिसमें हम एक बार फिर क्वीन एन (Queen Anne) के समय में लौट उस समय के व्यवहार तथा उपाचार आदि से परिचय प्राप्त करते हैं । उपन्यास के तीन भाग हैं: पहले में १४ अध्याय, दूसरे में १५ और तीसरे में १३ अध्याय हैं। पहले भाग में हेनरी एस्मंड की किशोरावस्था तक की बातों का निदर्शन है, जो उसके केंब्रिज में ट्रिनिटी कालेज से चले आने तक समाप्त होती है; दूसरे में उसकी सिपाहीगिरी का, बहादुरी का तथा एस्मंड वंश से सम्बन्ध रखने वाली बातों का वर्णन है; तीसरे में एस्मंड के इंग्लैंड में फिर [illegible] षड्यन्त्रों का निदर्शन है ।

हेसियड—(Hesiod. [illegible]) [illegible] में होमर का समकालिक [illegible] Works and Days का रचयिता प्रख्यात ग्रीक कवि [illegible]

छोड़ बियोशिया (Central Greece) जा बसे थे; वहीं *हेसियड* का जन्म हुआ और वही वह कृषक बन कर रहा । *हेसियड* एक स्त्री के अपहरण मे समिलित होने के कारण उस स्त्री के भाइयों के हाथों मारा गया था । *हेसियड* की सब से बड़ी विशेषता यह है कि ग्रीक कवियों में सब से पहले आपने पौराणिक तथा काल्पनिक जगत् को छोड़ वास्तविक जीवन मे कविता का स्रोत ढूंढा। अपनी *वर्क्स एंड डेज* नामक रचना में आपने चारित्रिक सिद्धांतों तथा अपने अनुभव से प्राप्त किए व्यावहारिक उपदेशों को एकत्र किया है । साथ ही साथ आपने आरम्भिक ग्रामीण जीवन का भी अच्छा चित्र खीचा है ।

हैझलिट—(William Hazlitt १७७८–१८३०) इतना अध्येता नहीं जितना मननशील, अपनी *कैरेक्टरस ऑफ शेक्सपीअरस प्लेज* (१८१७), *लेक्चरज ऑन दि इग्लिश पौयटस* (१८१९), *दि स्पिरिट ऑफ दि एज* (१८२५), *टेबलटाक* तथा *विंटरस्लो पेपर्स* नामक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध । डाक्टर *जाहसन* की कोटि का समालोचक ।

हैमलेट—(Hamlet, Prince of Demark) *शेक्सपीअर* रचित प्रख्यात ट्रैजेडी । कथा . गर्ट्रूड ने—जो डेनमार्क के राजा हैमलेट की पत्नी थी—उनके देहावसान के दो मास पश्चात् ही उनके भाई क्लाडियस से विवाह कर लिया । हैमलेट शरीर और आत्मा दोनों ही की दृष्टि से आदर्श राजा था, क्लाडियस उन दोनों ही की दृष्टि से भद्दा . ा । पतिदेव की मृत्यु के दो मास पश्चात् ही विवाह करना अजीब सी बात थी; फिर हैमलेट जैसे सुदर युवा को छोड क्लाडियस जैसे भद्दे व्यक्ति को पसद करना उससे भी अधिक; पितृभक्त प्रिंस हैमलेट को यह न रुचा, उसे अपनी माता विमाता दीख पडी, उसे क्लाडियस से घृणा हो गई । उनके विवाह के दिन भी वह काले कपड़ों में था; उनके परिणय की घटियाँ उसने नहीं सुनी थीं । अपने पिता की मृत्यु

के कारण के विषय में उसे संदेह था; उसकी भावना थी कि पितृदेव की मृत्यु में उसकी माता और उसके चचा का हाथ है। उसके मित्रों में एक होरेशियो था; ये दोनों दूध-पानी की तरह मिले हुए थे। होरेशियो ने रात के समय उसके पिता का भूत देखा; अगली रात हैमलेट भी उसे देखने के लिए आया। बारह बजे रात को वह भूत निकला; वह हैमलेट का पिता था; उसने हैमलेट को बताया कि किस प्रकार क्लाडियस ने उसे ताज और बीबी के लिए बग़ीचे में ज़हर देकर मार दिया। हैमलेट के रोएँ खड़े हो गए; उसका खून उबल गया; क्रोध और संताप ने उसे आ घेरा। अब उसने चचा से बदला लेने की ठानी। काम कठिन था, राजा प्रतिक्षण पहरे में रहता था; स्वयं हैमलेट की माता उसकी बगल में रहती थी। भूत ने हैमलेट से यह भी कहा था कि माता को आँच न आने पावे। हैमलेट ने बावला बनने की ठानी. उसका ओफीलिया से प्रेम था उसके प्रेम की मुद्रा में वह मारा मारा फिरने लगा; किंतु प्रेम के पीछे बदले की भावना छिपी बैठी थी। उसके हृदय में संताप, अनुताप, क्रोध, प्रेम, कर्तव्य तथा संदेह इन सभी की आँधी थी, भावों की इस आँधी में उसका शरीर तिनके की नाईं मारा-मारा फिरता था। एक दिन वहाँ नाटकी आए, उन्होंने एक ऐसा नाटक खेला जिसमें ट्रॉय के [illegible] (Pr[illegible]) की अपनी पत्नी हेकुबा (Hecuba) की मृत्यु [illegible] रोने लगे नायक लड़खड़ा गया, हैमलेट [illegible] उसे सोचा कि यदि हमारी [illegible] [illegible] घटना के आभिनयमात्र से [illegible] तथा [illegible] इस [illegible] एक [illegible] का दिल [illegible] [illegible] हुई अपने पिता की नृशंस हत्या पर [illegible] [illegible] किंतु बदला [illegible] हैं. हत्या करना अनुचित [illegible] है [illegible] चचा [illegible] अपनी माता के पति भी उसके [illegible]

की डोरी ढीली पड़ गई; उस ने पहले इस बात का पक्का निश्चय करने की ठानी कि क्या सचमुच हत्या उसके चचा ने की है। उपाय उसे सूझ गया: उसने साँगियों से ऐसा साँग भरने को कहा जिसकी कहानी उसके चचा के दारुणकर्म से मिलती हो, उस साँग को उसका चचा और माता दोनों देखें और हैमलेट उस साँग को देख उत्पन्न होने वाली उनकी मुखमुद्रा में उनके कुकर्म को पढ़े। ऐसा साँग भरा गया; कहानी में दिखाया गया कि किस प्रकार वियाना के एक ड्यूक को, उसकी पत्नी बैप्टिस्टा से मिल, गोन्जेगो नाम के उसी के संबंधी ने जहर देकर मारा, और उसकी मृत्यु के दो मास पश्चात् बैप्टिस्टा का पाणिग्रहण किया। साँग चल रहा था; उसमें राजा को अपना कुकर्म लिखा दीख पड़ा· वह बीच ही में बीमारी का बहाना बना उठ खड़ा हुआ। चोर की दाढ़ी में तिनका: हैमलेट को सब बात जँच गई। आज उसने बदला लेने का प्रण किया। राजा के कहने पर रानी ने हैमलेट को बुलाया, सब बातें सुनने के लिए पोलोनियस पर्दे के पीछे खड़ा था। माता और पुत्र की बात चली· माता पापिन थी, पुत्र निष्कलंक था· माता ने पति का घात किया था; पुत्र उसका अनन्य भक्त था· बात खुल गई; हैमलेट ने ताने कसे, रानी चलने लगी, हैमलेट ने पकड़ कर उसे बिठाया, वह चीखी, पोलोनियस ने सहायता के लिए शोर मचाया, हैमलेट ने उसी को छिपा हुआ राजा समझ तलवार चला दी, पोलोनियस धराशायी हो गया। यह हैमलेट से भूल हुई। इन बातों को उसके पिता ने भूत के रूप में देखा। क्लॉडियस ने हैमलेट को नाश करने की ठानी उसे दो रक्षकों की निगरानी में इंग्लैंड भेजा। हाथ में एक पत्र दिया जिसमें लिखा था कि हैमलेट को इंग्लैंड पहुँचते ही मार दिया जाय हैमलेट ने छिपकर अपना नाम उड़ा उसकी जगह रक्षकों का नाम लिख दिया। वे वहाँ पहुँचते ही खतम हो गए। हैमलेट

पूना-निवासी पं० दामोदर शास्त्री काशी में आ बसे थे। माता, पिता, स्त्री तथा पुत्र सभी के काशीवास लाभ करने पर और जीविका-रहित होने से यह भारतेंदुजी के साथ रहने लगे। सन् १८७४ ई० में यह बिहार में एक स्कूल के पंडित होकर चले गए और कुछ दिन बाद बिहार-बंधु पत्र के संपादक हुए। वहाँ कुछ दिन रहकर यह पुनः भारतेंदुजी के पास चले आए। संस्कृत में 'विद्यार्थी' पत्रिका निकालते रहे, जो बाद को मोहन-चंद्रिका में सम्मिलित हो गई। संस्कृत में कई पद भारतेंदुजी तथा अपने नाम की छाप से बनाए हैं। मराठी तथा हिंदी में भी बहुत से पद बनाए हैं। इन्होंने रूपक रूप में रामलीला सातो कांड लिखा है और बालखेल तथा राधामाधव दो नाटक लिखे हैं। बालखेल हरिश्चंद्र-मोहन-चंद्रिका के श्रावण सं० १९३६ की संख्या में छपना शुरू हुआ था। मृच्छकटिक का भी हिंदी अनुवाद किया है। महाराष्ट्र होते भी यह शिष्ट हिंदी लिख लेते थे। रामलीला सातों कांड अलग अलग लिखा है। ये अधिकतर गद्य ही में हैं, पर कहीं कहीं सवैया कवित्त भी दिए गए हैं। अरण्यकांड में शूर्पणखा द्वारा बत्तीस पदों में श्रीसीताजी का नखशिख वर्णन किया है। भाषा की दृष्टि से यह भारतेंदुजी के अनुगामी रहे।

दामोदर शास्त्री

पं० मोहनलाल विष्णुलालजी पंड्या का जन्म सं० १९०७ में हुआ था। कुछ दिन स्कूल में शिक्षा प्राप्तकर घर ही पर अध्ययन करते रहे। इनके पिता भारतेंदुजी के घर काम काज से आते जाते थे, इनसे पंड्याजी से इनसे मित्रता हो गई। इनके अनंतर यह उदय-

पंड्याजी

पुर चले गए। इन्होंने प्रायः एक दर्जन पुस्तकें लिखी हैं और पृथ्वीराज रासो का संपादन किया है। इन्होंने एक प्रह्लाद नाटक लिखा है, जिसका प्रथम अंक प्रथम गर्भांक हरिश्चंद्र मैगजीन की १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या में छपा है। इसमें प्रस्तावना नहीं है और केवल गद्य में है। भाषा शुद्ध हिंदी है।

यह उन्नाव-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे पर इनके पिता संकटाप्रसाद ज्योतिषी कानपुर में आ बसे थे। इनका जन्म आश्विन कृ० ६ सं० १९१३ को हुआ था। स्कूल में कुछ दिन शिक्षा प्राप्त कर उसे छोड़ दिया और गृह पर ही अध्ययन करते रहे। 'कविवचन सुधा' के पढ़ने से हिंदी-प्रेम इनमें अंकुरित हो उठा। कानपुर में लावनी की चर्चा उस समय अधिक थी, इससे लावनी के साथ कविता की ओर भी इनकी रुचि हो गई। सन् १८८३ में में यह 'ब्राह्मण' पत्र निकालने लगे, जिसमें इनकेहास्य तथा व्यंग्य-पूर्ण लेख और कविता बराबर निकलती थी। सन् १८८९ ई० में हिंदुस्तान के सहकारी संपादक हुए। इन्होंने १२ अनुवाद तथा २० मौलिक पुस्तकें लिखीं। यह स्वतंत्र प्रकृति तथा मनमौजी पुरुष थे। नाट्य-कौशल के प्रेमी थे। आषाढ़ शुक्ला ४ सं० १९५१ को इनका शरीरांत हुआ। इन्होंने छ नाटक-प्रहसन लिखे हैं, जो सभी साधारण कोटि के हैं।

प्रतापनारायण मिश्र

भारत-दुर्दशा रूपक केवल तीन अंकों मे लिखा गया है, जो भारतेंदुजी कृत भारत-दुर्दशा की नकल पर बना है। यह बिलकुल साधारण है। अभिज्ञान शाकुंतल का स्वतंत्र अनुवाद गीतिकाव्य मे करके उसका संगीत-शाकुंतल नाम रखा है। अनुवाद अच्छा

हुआ है और भाषा खड़ी बोली है। सन् १८८६ ई० में कलि-कौतुक रूपक प्रकाशित हुआ। इसमें व्यभिचार, मांस-मदिरा-सेवन, भंड-साधुओं के कपट, दुराचारियों के अनाचार आदि दिखलाए गए हैं। इसमें चार दृश्य हैं और प्रस्तावना न देकर केवल एक दोहे में नांदी दी गई है। भाषा अच्छी है तथा विषय का प्रतिपादन अच्छा है। कुकर्म का फल तथा उसके मित्र दोनों ही बुरे होते हैं। कुछ गाने भी दिए गए हैं तथा उर्दू शैरों का काफी पुट है।

इनके सिवा गो-संकट नाटक, कलिप्रभाव, जुआरी खुआरी तथा हठी हमीर भी इनकी रचनाएँ हैं, जिनमें अंतिम ऐतिहासिक है। अलाउद्दीन खिल्जी ने अपने एक सरदार को शरण देने के कारण हम्मीरसिंह पर चढ़ाई की थी, उसी घटना को लेकर यह नाटक लिखा गया है। जुआरी खुआरी साधारण प्रहसन है और प्रथम दोनों नाटक सामाजिक हैं।

मिश्र जी में प्रतिभा, कवित्व-शक्ति तथा शिष्ट परिहास-प्रियता अच्छी मात्रा में थी और कई भाषाओं पर अच्छा अधिकार था। मुहाविरों, ग्रामीण कहावतों का वह ऐसा अच्छा प्रयोग करते थे कि भाषा में जान आ जाती थी। उर्दू की जिंदादिली इनके नस-नस में भरी थी। भारतेंदु जी के यह परम भक्त थे और उनकी यह श्रद्धा उस समय से अब तक कुछ विशिष्ट लोगों को बराबर खलती रही है। मिश्र जी के उपर्युक्त गुणों का उनकी कविता तथा गद्यलेखों में जितना परिचय मिलता है उतना उनके नाटकों में नहीं। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि मनमौजीपन से इन्होंने भी नाटक लिख डाले हैं पर इनकी प्रवृत्ति इस ओर

अधिक नहीं थी और इसी से इन रचनाओं में अधिक परिश्रम नहीं कर सके तथा न मनोयोग दे सके।

इनका जन्म अगहन वदी ७ सं० १९०८ को कलकत्ते में हुआ था। आपने एंट्रेंस तक शिक्षा प्राप्त की थी। यह कई स्थानों में जीविका के निमित्त घूमते फिरते रहे पर अंत में काशी में आकर रहने लगे। यहीं ९ जुलाई सन् १९०४ ई० को मृत्यु हो गई। आपने कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया था और प्रायः वीस पुस्तके लिखीं जिनमें बंगला के अनुवाद अधिक है। हिंदी के प्रचार में आपका विशेष हाथ था। आपका एक नाटक 'रेल का विकट खेल' हरिश्चंद्र मैगजीन की १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या मे छपने लगा था। इसकी प्रस्तावना तथा प्रथम अंक ही उक्त संख्या में प्रकाशित हुआ था। इनकी भाषा भी भारतेंदु काल ही की थी और संयत तथा गंभीर होती थी। इसमें ग्रामीण भाषा का भी अच्छा समावेश किया गया है।

कार्तिक प्रसाद

यह इलाहाबाद के अंतर्गत सिरसा मे बस गए थे पर इनके पूर्वज आगरा के रहनेवाले थे। इनके पिता दयालदास टंडन खत्री थे। इनका जन्म सं० १९०६ मे आगरे में हुआ था और प्रयाग मे शिक्षा प्राप्त की थी, जहाँ इनके बड़े भाई नौकर थे। शिक्षा समाप्त होते ही उसी स्कूल मे अध्यापक नियत हो गए और बाद को सिरसा मे प्रधान अध्यापक पद पर बदली हो गई। बारह वर्ष इस पद पर रहे और इसके अनंतर यह स्कूल ही टूट गया। इसके बाद गवर्नमेंट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर तथा लाट साहब के दफ्तर के पुस्तका-

काशीनाथ खत्री

ध्यक्ष नियत हुए। कुछ दिन बाद नौकरी छोड़कर यह सिरसा में रहने लगे और लेन देन का व्यापार करने लगे। यहीं साहित्य-सेवा में अंत तक लगे रहे। ६ जनवरी सन् १८९१ ई० को इनकी मृत्यु हो गई।

नाटक-रचना में इनका प्रथम प्रयास 'ग्राम पाठशाला तथा निकृष्ट नौकरी' नाटक है, जो पहिले हरिश्चंद्र-चंद्रिका तथा कवि-वचन सुधा मे प्रकाशित हुआ था। बाद को सन् १८८३ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। ये दो छोटे छोटे स्वतंत्र नाटक हैं। प्रथम मे मुदर्रिसो अर्थात् ग्राम पाठशाला के अध्यापकों की दुर्दशा दिखलाई है और दूसरे में नौकरी मिलने मे कितनी कठिनाई उठानी पड़ती है और मिल जाने पर भी कितनी दुर्दशा भोगनी पड़ती है, यह दिखलाया गया है। दोनों मे अलग अलग प्रस्तावना दी गई है। 'तीन इतिहासिक रूपक' तीन अति छोटे छोटे रूपकों का सग्रह है। पहिला 'सिंधु देश की राजकुमारियॉ' वह ऐतिहासिक घटना है, जो मुसल्मानों की सिंध पर प्रथम चढ़ाई के समय घटित हुई थी। दूसरे 'गुन्नौर की रानी' मे भूपाल-राजवंश के सस्थापक तथा गुन्नौर के पराजित राजा की विधवा रानी का वृत्तात है और तीसरे 'लव जी का स्वप्न' मे रघुवश की एक कथा लव के स्वप्न को लेकर कथावस्तु रचा गया है। इन तीनो मे व्यापार का विस्तार प्रायः नहीं सा है। यह सन् १८८४ ई० मे प्रकाशित हो चुका था। इसके सिवा बाल-विधवा-सताप नाटक लिखा है, जो छोटा-सा एक रूपक है। इसमे विध-वाओं के कष्ट दिखलाते हुए विधवा-विवाह का शास्त्रीय प्रमाणों से समर्थन किया है।

अधिक नहीं थी और इसी से इन रचनाओं में अधिक परिश्रम नहीं कर सके तथा न मनोयोग दे सके।

इनका जन्म अगहन वदी ७ सं० १९०८ को कलकत्ते में हुआ था। आपने एंट्रेंस तक शिक्षा प्राप्त की थी। यह कई स्थानों में जीविका के निमित्त घूमते फिरते रहे पर अंत में काशी में आकर रहने लगे। यहीं ९ जुलाई सन १९०४ ई० को मृत्यु हो गई। आपने कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया था और प्रायः बीस पुस्तकें लिखीं जिनमें बंगला के अनुवाद अधिक हैं। हिंदी के प्रचार में आपका विशेष हाथ था। आपका एक नाटक 'रेल का विकट खेल' हरिश्चंद्र मैगजीन की १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या में छपने लगा था। इसकी प्रस्तावना तथा प्रथम अंक ही उक्त संख्या में प्रकाशित हुआ था। इनकी भाषा भी भारतेंदु काल ही की थी और संयत तथा गंभीर होती थी। इसमे ग्रामीण भाषा का भी अच्छा समावेश किया गया है।

कार्तिक प्रसाद

यह इलाहाबाद के अंतर्गत सिरसा मे बस गए थे पर इनके पूर्वज आगरा के रहनेवाले थे। इनके पिता दयालदास टंडन खत्री थे। इनका जन्म स० १९०६ में आगरे मे हुआ था और प्रयाग मे शिक्षा प्राप्त की थी, जहाँ इनके बड़े भाई नौकर थे। शिक्षा समाप्त होते ही उसी स्कूल मे अध्यापक नियत हो गए और बाद को सिरसा मे प्रधान अध्यापक पद पर बदली हो गई। बारह वर्ष इस पद पर रहे और इसके अनंतर यह स्कूल ही टूट गया। इसके बाद गवर्नमेंट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर तथा लाट साहब के दफ्तर के पुस्तका-

काशीनाथ खत्री

ध्यक्ष नियत हुए। कुछ दिन बाद नौकरी छोड़कर यह सिरसा मे रहने लगे और लेन देन का व्यापार करने लगे। यहीं साहित्य-सेवा में अंत तक लगे रहे। ६ जनवरी सन् १८६१ ई० को इनकी मृत्यु हो गई।

नाटक-रचना में इनका प्रथम प्रयास 'ग्राम पाठशाला तथा निकृष्ट नौकरी' नाटक है, जो पहिले हरिश्चंद्र-चंद्रिका तथा कवि-वचन सुधा मे प्रकाशित हुआ था। बाद को सन् १८८३ ई० मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। ये दो छोटे छोटे स्वतंत्र नाटक हैं। प्रथम में मुदर्रिसों अर्थात् ग्राम पाठशाला के अध्यापकों की दुर्दशा दिखलाई है और दूसरे मे नौकरी मिलने में कितनी कठिनाई उठानी पड़ती है और मिल जाने पर भी कितनी दुर्दशा भोगनी पड़ती है, यह दिखलाया गया है। दोनों मे अलग अलग प्रस्तावना दी गई है। 'तीन इतिहासिक रूपक' तीन अति छोटे छोटे रूपकों का संग्रह है। पहिला 'सिंधु देश की राजकुमारियाँ' वह ऐतिहासिक घटना है, जो मुसल्मानों की सिंध पर प्रथम चढ़ाई के समय घटित हुई थी। दूसरे 'गुन्नौर की रानी' में भूपाल-राजवंश के सस्थापक तथा गुन्नौर के पराजित राजा की विधवा रानी का वृत्तात है और तीसरे 'लव जी का स्वप्न' मे रघुवश की एक कथा लव के स्वप्न को लेकर कथावस्तु रचा गया है। इन तीनो मे व्यापार का विस्तार प्रायः नहीं सा है। यह सन् १८८४ ई० मे प्रकाशित हो चुका था। इसके सिवा बाल-विधवा-सताप नाटक लिखा है, जो छोटा-सा एक रूपक है। इसमे विधवाओं के कष्ट दिखलाते हुए विधवा-विवाह का शास्त्रीय प्रमाणों से समर्थन किया है।

बाबू काशीनाथ अच्छे अनुवादक अवश्य थे और इनकी रचनाओं में अधिकांश अनुवाद ही हैं। यह सशक्त प्रतिभाशाली लेखक नहीं थे और इनकी मौलिक रचनाएँ अधिकतर देश-हित-कर, नीति, धर्म, समाज आदि पर ही लिखी गई हैं। इनके नाटक भी ऐसे ही विषयों पर लिखे गए हैं पर न वे विशेष जोरदार हैं और न अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हुए हैं। नाट्य-शास्त्र के ज्ञान का भी इन रूपकों से अधिक परिचय नहीं मिलता पर ये अवश्य ही तत्कालीन दशा का अच्छा दृश्य उपस्थित करते हैं।

यह मुरादाबाद-निवासी वैश्य थे और वैद्यगी करते थे। इन्होंने बहुत-सी पुस्तकें अनेक विषयों पर लिखी हैं, जिनमें माधवानल कामकंदला, मयूरध्वज, लावण्यवती, अर्जुन-मदमर्दन, पुरुविक्रम, अभिमन्यु-वध आदि नाटक हैं। यह इसी नाम की छाप से कविता भी करते थे, जो अति साधारण तथा शिथिल होती थी। भाषा पर भी इनका विशेष अधिकार नहीं था और वह अशुद्ध भी होती थी। पुरानापन तथा व्रजभाषा का मेल भी बहुत है। नाटकों के वस्तु-संगठन, कथोपकथन आदि भी अत्यत शिथिल हैं। हाँ, लिखा बहुत है। इनका रचनाकाल सं० १९३५ से १९५५ तक है। इनके मालती-माधव की कथा की सूचना 'सुदशा प्रवर्तक' के सितंबर सन १८८१ ई० के अंक मे निकली थी। अभिमन्यु-वध का लिखा जाना स० १९३७ में आरंभ हुआ था। इस नाटक का नाम जयद्रथ-वध अधिक समीचीन होता क्योंकि कथानक वहाँ तक पहुँच कर समाप्त हुआ है। ८० वें पृष्ठ पर अभिमन्यु का वध होता है और उसके बाद ११२ पृष्ठों मे जयद्रथ-वध दिखलाया गया है।

शालिग्राम

इस कथानक के लिए जितने ओज की आवश्यकता थी, वह नहीं आ सका है और चरित्र-चित्रण भी किसी पात्र का उपयुक्त नहीं हुआ है। नाटक साधारण है।

पुरु-विक्रम में सिकंदर तथा पुरु के युद्ध को रूपक का रूप दिया गया है पर नाटककार का इतिहास-ज्ञान बिलकुल थोथा है। यवन (ग्रीक) को मुसलमान मान लेना सबसे बड़ी भूल हुई है। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण नहीं के समान है और कथोपकथन में कुछ भी दम नहीं है। भाषा भी सदोष है। नाटक साधारण है। यह स्यात् इनकी अंतिम रचना है।

राजा मोरध्वज एक प्रसिद्ध भक्त नरेश हो गए हैं। उसी कथा को रूपक का यह रूप दिया गया है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को मोरध्वज का पुत्र रोक लेता है और युद्ध में सबको, अर्जुन को भी, परास्त करता है। अंत में श्रीकृष्ण अर्जुन के कहने पर साधु बनकर भक्त की परीक्षा को जाते हैं और वह उस परीक्षा में सफल होता है। कृष्णजी दोनों में मैत्री कराकर घोड़ा दिलवा देते हैं। मोरध्वज तथा उनके पुत्र का चित्रण अच्छा हो गया है और जो कुछ वस्तु है, उसका संगठन भी सुस्पष्ट किया गया है। भाषा में ब्रजभाषा का पुट है और नाटक प्राचीन शैली पर है।

माधवानल कामकंदला बड़ा नाटक है। यह अंक गर्भांक में विभक्त भी है पर है नाटक रूप में आख्यानक मात्र। माधवानल और कामकंदला ने पूर्व जन्म की आपस की कथा कहने में छब्बीस पृष्ठों का एक गर्भांक लिख डाला है। कई पृष्ठों के बड़े बड़े स्तोत्र, बारहमासा, विरह की कविता भरी हैं, और उसपर

खूब लंबे लंबे भाषण या बतकही दी हुई हैं। व्यापार अधिक है नहीं, इसलिए यह सब भर्ती की गई हैं। शिथिल भाषा में साधारण नाटक है।

इनके अन्य नाटक भी प्रायः इसी प्रकार के हैं।

यह प्रयाग समाचार पत्र के संपादक थे। इन्होंने जयनारसिंह की, होली खगेश, चक्षुदान आदि नाटक लिखे हैं। प्रथम छोटा सा रूपक है, जिसमें दवा न कर झार-फूँक करके ही बच्चों का मूर्खगण द्वारा प्राणनाश करना दिखलाया गया है। यह प्रायः पूरा ग्रामीण भाषा मे लिखा गया है। इनके अन्य नाटक देखने में नहीं आए।

देवकी नंदन त्रिपाठी

प्रसिद्ध साहित्यसेवी पं० मयाशंकरजी याज्ञिक के पूर्वजों में से यह थे और याज्ञिक के अपभ्रंश रूप जानी अल्ल से प्रसिद्ध थे। इन्होंने विज्ञान विभाकर नाटक लिखा है, जिसका तीसरा अंक ३१ मई सन् १८८० ई० के सारसुधानिधि मे प्रकाशित हुआ है। यह भरतपुर राज्य के दीवान थे तथा रायबहादुर की पदवी से विभूषित थे। उक्त नाटक के सिवा अन्य कई पुस्तके लिखी हैं। यह प्रायः सं० १९६७ तक वर्तमान थे।

बिहारीलाल

मझौली राज्य के महाराजाधिराज कुमार लाल खड्गबहादुर मल्ल हिंदी साहित्य के प्रेमी थे। इन्होंने प्रायः १४–१५ पुस्तके लिखी हैं, जिनमे महारास, बाल विवाह विदूपक, भारत आरत, कल्पवृक्ष, हरितालिका, भारत ललना तथा रति-कुसुमायुध नाटक हैं। यह भार-

खड्गबहादुर मल्ल

तेंदुजी के परम मित्रों मे से थे और बाँकीपुर का खड्गविलास प्रेस इन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के यह फुफेरे भाई थे। इनका जन्म सं० १९२२ में हुआ था और इनके पिता तथा बड़े भाई की मृत्यु पर इनका पालन भारतेंदुजी के यहाँ हुआ था।

राधाकृष्णदास

एंट्रेंस तक पढ़कर स्कूल छोड़ दिया और गृह पर ही हिंदी, उर्दू, बँगला आदि की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। नागरी प्रचारिणी सभा काशी के यह प्रमुख नेता थे और उसके उन्नयन मे अंत तक दत्तचित्त रहे। यह सुकवि तथा अच्छे गद्य-लेखक थे। इन्होंने प्रायः पचीस पुस्तके लिखीं, जिनमे चार नाटक हैं। भारतेंदुजी के सतीप्रताप को भी इन्होंने पूरा किया था। ४२ वर्ष की अवस्था मे सं० १९६४ मे इनकी मृत्यु हो गई।

इनका पहिला रूपक 'दुःखिनी बाला' है, जो हरिश्चंद्र-चंद्रिका तथा मोहन-चंद्रिका मे सं० १९३७ मे प्रकाशित हुआ था। उसी वर्ष यह पुस्तकाकार भी छपा था। इसके दो वर्ष बाद कुछ सुधार कर तथा कथोपकथन और एक दृश्य बढ़ाकर प्रकाशित हुआ। नायिका श्यामा दूसरी आवृत्ति मे सरला हो गई। यह कुल गद्य मे है और छ दृश्य हैं। प्रथम मे प्रस्तावना है और द्वितीय मे पुत्रोत्पत्ति पर व्यर्थ का व्यय दिखलाया गया है। ये दोनों बहुत छोटे हैं। तीसरे मे जन्मपत्री बनने के कारण सुशील शिक्षित बड़े वर को छोड़कर कुरूप छोटे वर से शादी की जाती है। चौथा दृश्य द्वितीय आवृत्ति मे बढ़ाया गया है और इसमें वर की जड़ता दिखलाई है। पाँचवे मे विधवा सरला का कष्ट वर्णित है और छठे मे

कष्ट न सह सकने के कारण वह विष खा लेती है। यह साधारण रूपक है और अपव्यय, विधवा-विवाह आदि कुरीतियों पर लिखा गया है।

इनका दूसरा नाटक महारानी पद्मावती अथवा मेवाड-कमलिनी ऐतिहासिक है। महाराणा रत्नसेन की रानी पद्मावती के सौंदर्य को सुनकर दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। हारने पर धोखे से संधि का बहाना कर चित्तौड़ आता है और रत्नसेन को कैद कर ले जाता है। पद्मावती सात सौ वीरों को डोलियों में बिठाकर साथ ले अलाउद्दीन के डेरे मे जाती है और रत्नसेन को छुड़ाकर ले आती है। अलाउद्दीन क्रुद्ध हो चित्तौड़ घेर लेता है, स्त्रियाँ जहरव्रत करती हैं और क्षत्रियगण युद्ध में मारे जाते हैं। यह नाटक छ अंक तथा उन्नीस दृश्यों में विभाजित है। यह वीर रस पूर्ण नाटक है और भाषा, गद्य तथा पद्य, दोनों की, ओजपूर्ण तथा प्रांजल है। नायक, नायिका तथा प्रतिनायक सभी का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। पात्रों की बातचीत भी सरल तथा उनके उपयुक्त हुई है। कुल बातों का विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस नाटक की रचना मे नाटककार सफल हुआ है। इसमें काफी कविता का भी समावेश हुआ है, जो वीर रस के अनुकूल है। इसकी भूमिका मे आरंभ से उस समय तक का मेवाड का इतिहास दिया गया है।

धर्मालाप में भारत के प्राचीन सनातन धर्म तथा अन्य धर्मों के माननेवालों के, नई पुरानी रोशनी के, आपस मे कथोपकथन हैं, जो सं० १९४२ में लिखा गया था। पहिले यह धर्मामृत पत्र में

छपा और बाद को पुस्तकाकार निकला। इसमे भारतेंदुजी के पद अधिकतर लिए गए हैं।

इनका सबसे बड़ा तथा सर्वश्रेष्ठ नाटक महाराणा प्रतापसिंह सं० १९५४ मे समाप्त हुआ था। इसका कुछ अंश पहिले साहित्य-सुधानिधि मे छपा था। इसकी भूमिका में अकबर की मेवाड़ पर चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त दिया गया है। इस नाटक मे प्रस्तावना, सात अंक तथा छत्तीस गर्भांक हैं। द्वितीय अंक में नौरोज के दिनों में अकबर किस प्रकार राजपूत बालाओं पर अत्याचार करता था और पृथ्वीराज की रानी ने किस प्रकार उसकी घर्षणा कर उसकी आदत छुड़ाई थी, इसका बड़ी ओजपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। चतुर्थ अंक के प्रथम गर्भांक में अकबर का तानसेन के साथ वृंदावन जाना प्रदर्शित किया गया है और पाँचवें में एक वेश्या तथा साधारण मुसल्मानों की बकवाद है। छठे अंक के चौथे गर्भांक मे बालकों का खेल है और पाँचवे में उक्त मुसल्मानों की भँड़ैती है। नाटक के मुख्य कथावस्तु से इन सबका कोई संपर्क नहीं है। मुख्य कथावस्तु प्रधानतः अकबर का मेवाड़ पर विजय करने का प्रयास तथा महाराणा प्रताप का उन्हें विफल करना है। नाटक का आरंभ प्रताप के राजदरबार से होता है, जिसमे अकबर से देश की रक्षा करने का प्रण किया जाता है। दूसरे तथा तीसरे गर्भांक मे भी राजपूतों तथा महाराणी द्वारा भी क्रमशः उसी का समर्थन किया जाता है। तीसरे अंक मे राजा मानसिंह का आतिथ्य और अपमान होता है। इसी अंक के तीसरे और चौथे गर्भांक मे प्रासंगिक कथा आरंभ होती है, जो एक वीर-युग्म की प्रेम-कथा है। गुलाबसिंह तथा मालती

समान पारस्परिक प्रेम रखते हुए भी स्वदेश को शत्रु से मुक्त न होने तक अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करते हैं और दोनों इस कार्य मे दत्तचित्त होते हैं। चौथे अंक मे गुलाबसिंह पता लगाने दिल्ली पहुँचते हैं और मानसिंह के अकबर को उत्तेजित कर मेवाड़ पर चढ़ाई करने की आज्ञा लेने का समाचार पृथ्वीराज के पत्र सहित लेकर मेवाड़ लौटते हैं। पंचम अंक में पत्र प्रताप को मिलता है, शाही सेना अजमेर पहुँचती है और महाराणा युद्ध को जाते हैं। युद्ध में घायल महाराणा की उनके भाई सक्ता जी जंगल में रक्षा करते हैं और चेतक घोड़े की मृत्यु होती है। इसी अंक के दो गर्भांकों में मालती तथा गुलाबसिंह का प्रेम अलग अलग दिखलाया गया है। छठे अंक के प्रथम गर्भांक में सलीम आकर हल्दी घाटी की विजय का समाचार कहता है और उत्सव मनाया जाता है। दूसरे गर्भांक में राणा प्रताप का कष्ट दिखलाया जाता है। तीसरे मे मालती तथा गुलाबसिंह का मिलन होता है पर उसी प्रण के अनुसार दोनों तुरंत अपने कार्य में लगते है। छठे गर्भांक मे आहत गुलाबसिंह को खोजकर ले जाते हैं। सप्तम अक के प्रथम गर्भांक मे मुसल्मानी सेना का आक्रमण तथा युद्ध, द्वितीय मे भीलों द्वारा महाराणा के परिवार की रक्षा और तृतीय मे घोर वन में महाराणा के कष्ट दिखलाए गए है। इन कष्टों से उकताकर महाराणा ने सधि का प्रस्ताव किया और यह समाचार पाकर अकबर की प्रसन्नता तथा पृथ्वीराज की शका चौथे गर्भांक मे दिखलाई गई है। पाँचवें में गुलाबसिंह पृथ्वीराज का पत्र लाकर महाराणा को देते हैं और वह पुन युद्ध के लिए उत्साहित होते हैं। छठे में महाराणा

मेवाड़ छोड़कर जाने का प्रबंध करते हैं कि उनके मंत्री भामाशाह अपना सब धन उन्हें सौंप देते हैं और पुनः सेना एकत्र कर मेवाड़ पर अधिकार किया जाता है। सातवें में अकबर को समाचार मिलता है कि प्रताप ने पुनः मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। आठवें में महाराणा के दरबार मे गुलाबसिंह तथा मालती के विवाह का प्रबंध करना और पुत्र को स्वदेश-प्रेम का उपदेश देना वर्णित है।

यह नाटक शुद्ध ऐतिहासिक कथावृत्त पर गठित हुआ है पर साथ ही गुलाबसिंह तथा मालती की गौण-कथा भी चलती रही है, जो मूल कथावस्तु के साथ समाप्त हुई है। कथावस्तु अवश्य कुछ विशद हो गया है पर तब भी पूर्वरूपेण सुश्रृंखलित है, कहीं भी शैथिल्य नहीं आने पाया है। आधिकारिक कथा के नायक तथा प्रतिनायक महाराणा प्रताप और सम्राट् अकबर तथा प्रासंगिक के नायक-नायिका गुलाबसिंह और मालती हैं। इन दोनों का शुद्ध तथा सच्चा प्रेम है पर वे कभी उस प्रतिज्ञारूपी दीवाल का, जिन्हें उन्हीं दोनों ने देशप्रेम की दृढ़ भित्ति पर उठाया था, उल्लघन नहीं करते। मालती आहत गुलाबसिंह को खोजने के लिए भयंकर युद्धस्थल मे निर्भीक होकर जाती है और बराबर अपने प्रिय को देशसेवा के लिए उत्तेजित तथा उत्साहित करती रही है। उनके इन कार्यों को उनका राजा अच्छी प्रकार पुरस्कृत करता है केवल धन से ही नहीं, हृदय से। महाराणा प्रताप का चरित्र-चित्रण भी अनुपम हुआ है। वह सुख मे तथा दुःख मे, ऐश्वर्य तथा निर्धनता मे स्वदेश तथा स्वदेश-हितैषियों के लिए सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते थे। युद्ध मे सेना-सचालन करते भी सबके आगे रहते थे और अनेक कष्ट सहते भी

हतोत्साह नहीं होते थे। बालिका के कष्ट से एक बार विचलित होना तथा पुनः अपने कार्य में अदम्य उत्साह के साथ संलग्न होना दिखलाकर नाटककार ने महाराणा प्रताप के चरित्र को उज्वलतर ही किया है। सम्राट् अकबर के यौवन की अविवेकता को एक ही ठोकर में दूर करना, उसकी राजनीति तथा शत्रु की भी वीरता और स्वदेश-प्रेम की दाद देना दिखलाकर प्रतिनायक के हृदय की महानता स्पष्ट की है। राजपूतों, भीलों तथा मंत्री भामाशाह और अन्य गौण पात्रों के भी चित्रण अच्छे हुए हैं। कथोपकथन भी प्रत्येक पात्र के योग्य ही दिया गया है और भाषा भी अनुकूल रखी गई है। कविता अधिक नहीं है पर जो है उन सब में संजीवनी शक्ति भरी है और वीर रस के उपयुक्त ओज से पूर्ण है। कुछ पद प्रेम के भी हैं, जिनमें मृदुलता है। नाटककार सुकवि हैं और उनका भाषा पर अच्छा अधिकार है। स्वच्छ सरल अवसर के अनुकूल होते पाठक या श्रोता को तात्पर्य तुरंत हृदयंगम करा देने की उसमें शक्ति है। इस नाटक का प्रधान रस वीर है पर साथ साथ शृंगार तथा हास्य का भी पुट दिया गया है। इस नाटक का अभिनय भी कितनी ही बार सफलतापूर्वक हुआ है। तात्पर्य यह कि यह नाटक हिंदी की प्रथम श्रेणी के नाटकों में से है और भारतेंदुजी तथा प्रसादजी के बीच के समय का यह सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

सतीप्रताप भारतेंदुजी अधूरा छोड़ गए थे, जिसे बाबू राधाकृष्ण-दास ने पूर्ण किया था। अनुकरण करने की इनकी शक्ति सराहनीय है और इस प्रकार इस नाटक को पूरा किया है कि यदि बतलाया न जाय तो कोई नहीं कह सकता कि इन्होंने कितना अंश लिखा था।

रामकृष्ण वर्मा

इनके पिता सन् १८४० ई० मे पंजाब से आकर काशी में बस गए। इनके तीन पुत्रों मे सबसे छोटे यही थे। इनका जन्म सं० १९१६ मे यहीं हुआ। इनके पिता इन्हें एक वर्ष का छोड़कर मरे थे पर इनकी माता ने अपने पुत्रों का बड़े कष्ट से पालन किया। इन्होंने संस्कृत लेकर बी० ए० तक पढ़ा था। भारतेंदुजी की इनपर बड़ी कृपा थी। इन्हींने इनके पत्र तथा प्रेस का भारत-जीवन नामकरण किया था। इस प्रेस से उस समय हिंदी की बहुत अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं और इनके पत्र ने भी हिंदी-प्रचार मे हाथ बँटाया था। जलोदर रोग से २५ दिसंबर सन् १९०६ ई० को इनकी मृत्यु हो गई।

इन्होंने कथा-सरित्सागर का दश भाग तक अनुवाद किया तथा कई अन्य पुस्तकें लिखीं। नाटकों में इन्होंने मौलिक एक भी नहीं लिखा है पर अनुवाद कई किए हैं। ये सभी बंगला से अनूदित हैं। इनके नाम कृष्णकुमारी नाटक, पद्मावती तथा वीर नारी हैं।

कृष्णकुमारी नाटक मे मेवाड़पति भीमसिह की पुत्री कृष्ण-कुमारी से विवाह के लिए जोधपुर तथा जयपुर के दोनों नरेशों ने सदेश कहलाया और साथ ही दोनों ने यह भी धमकी दी कि यदि उनकी प्रार्थना स्वीकार न की जायगी तो वे मेवाड़ पर चढ़ाई करेंगे। उस समय मेवाड अत्यत निर्बल हो रहा था और मराठों तथा पिंडारों से लुट लुटा चुका था। अत मे इस आक्रमण से मेवाड की रक्षा करने के लिए अमीरखाँ पिंडारा की राय से कृष्णा का बलिदान दिया गया था। इसी घटना पर माइकेल मधु-

सूदनदत्त ने यह नाटक रचा था, जिसका अनुवाद सन् १८८३ ई० में पहिले 'भारतेंदु' पत्र में क्रमशः छपा था, इन्हीं की दूसरी रचना पद्मावती का अनुवाद सन् १८८८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें राजा इंद्रनील तथा पद्मावती की प्रेमकथा है, जिसमें नारदजी तथा देवनारियों का समावेश कर पौराणिक रूप दिया गया है। इसके एक वर्ष बाद वीरनारी का अनुवाद हुआ, जिसमें सिंधुनरेश दाहिर के मारे जाने पर उनकी रानी का युद्ध करना और अंत में अन्य अनेक क्षत्राणियों के साथ जहरव्रत लेना वर्णित है।

ये सभी अनुवाद हैं, इससे नाट्यकला के विषय में आलोचना करने का स्थानाभाव है। परंतु वर्मा जी अनुवाद-कार्य में सफल हुए हैं और इनकी भाषा भी मँजी हुई है। कहीं कहीं कविता का पद्यानुवाद भी किया है। यह कविता में 'बलवीर' उपनाम रखते थे।

केशवराम भट्ट

महाराष्ट्र ब्राह्मण पं० केशवराम भट्ट का जन्म सं० १९११ आश्विन कृ० ५ को हुआ था। इन्होंने एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी और हिंदी, उर्दू तथा फारसी का गृह पर अच्छा अध्ययन किया था। सं० १९३१ में इन्होंने विहार-बंधु प्रेस खोला और विहार-बंधु समाचार पत्र प्रकाशित करने लगे। सं० १९३४ में यह ऑफिशियेटिंग डिप्टी इंसपेक्टर नियत हुए और उसी वर्ष स्थायी भी हो गए। इसके दो वर्ष बाद विहार हाई इंगलिश स्कूल के हेड पंडित नियत हुए और तेरह वर्ष तक यह कार्य करते रहे। इन्होंने हिंदी में कई पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें दो तीन, स्कूलों में कई वर्षों तक

जो डिप्टी कलेक्टर और फिर काशिराज के दीवान नियत हुए। यहाँ से हटने पर बोर्ड ऑव रेवेन्यू के सेक्रेटरी नियुक्त हुए। इन्होंने काशी-पत्रिका समाचार-पत्र निकाला, जो शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत हुआ था। प्रयाग का वेलवेडियर प्रेस इन्होंने स्थापित किया था, जहाँ से संतबानी सीरीज निकलती थी। यह राधास्वामी मत के माननेवाले थे। इन्होंने मर्चेंट ऑव वेनिस के अनुवाद में, जिसे भारतेंदुजी ने दुर्लभ-बंधु नाम से किया था, सहायता दी थी और स्वयं भी वेनिस का सौदागर नाम से उसका स्वतंत्र अनुवाद किया था।

मिर्जापुर निवासी पं० बद्रीनारायणजी उपाध्याय 'प्रेमघन' जी के यह छोटे भाई थे। इन्होंने प्रयाग से बी० ए० की परीक्षा पास की थी। शेक्सपीअर के प्रसिद्ध नाटक मैकवेथ का अंग्रेजी से हिंदी में 'साहसेंद्र-साहस' नाम से अनुवाद किया है, जो पहिले क्रमशः आनंद-कादंबिनी में प्रकाशित होता रहा और बाद को सन् १८९३ ई० में पुस्तकाकार छपा। अनुवाद की भाषा क्लिष्ट संस्कृत-गर्भित और यत्र-तत्र पूर्ण संस्कृत हो गई है। इनकी शैली इनके अग्रज ही के साथ समान है। गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में सफलता-पूर्वक अनुवाद हुआ है तथा नामों को भी संस्कृत रूप दिया गया है।

मथुराप्रसाद उपाध्याय

यह श्रद्धेय महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय के पितृव्य थे। इन्होंने मुद्राराक्षस का भी अनुवाद किया था पर भारतेंदुजी के अनुवाद को देखकर अपना अनुवाद नहीं प्रकाशित कराया। इन्होंने शूद्रक

गदाधर भट्ट

शमसाद्-सौसन सन् १८८० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें चार अंक और १७ झाँकियाँ हैं। इसमें भारतेंदुजी का एक पद भी दिया गया है। इसमें पाँच पात्र और दो पात्री हैं। शमसाद और सौसन एक दूसरे से प्रेम करते हैं। शमसाद का कुछ रुपया रो साहब के यहाँ बाकी है, जिसे पक्का बदमाश चित्रित किया गया है। यह हैंडनोट लेकर फाड़ डालता है और शमसाद को मार कर निकलवा देता है। सौसन का भाई कैसर शरारती है और वह इन दोनों प्रेमियों में लड़ाई लगाता है पर उसका भी प्रेम शमसाद की बहिन हमीदा पर है। रो को शमसाद ने अवसर पाकर पीटा। जिसका बदला लेने को उसने हमीदा पर चोरी का इलजाम लगाकर हवालात में बंद कर दिया। रात्रि में वह उस पर अत्याचार करने गया पर कैदियों द्वारा मारा गया। हमीदा छूटकर आई और अंत में कैसर ने अपनी करतूत कहकर दोनों में विवाह करा दिया तथा उसका भी हमीदा से विवाह हो गया। रो का इन अत्याचारों में सहायक दीनानाथ बंगाली है, जिसकी नीचता का अच्छा चित्रण किया गया है। ढेर का ढेर खानेवाले हाजी की अवतारणा कर हास्य का भी कुछ समावेश किया गया है।

दोनों में कथावस्तु सुगठित है और चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। शृंगार प्रधान तथा हास्य, भयानक आदि गौण रस हैं। कथोपकथन भी अच्छा है। ग्रामीण भाषा का प्रयोग हुआ है। यद्यपि ये दोनों बँगला के आधार पर लिखे गए हैं पर कुछ मौलिकता लिए हुए हैं, इसीसे इतनी व्याख्या आवश्यक जान पड़ी।

बाबू बालेश्वर प्रसाद अग्रवाल बी० ए० भारतेंदुजी के अंतरंग मित्रों में से थे। यह पहिले नार्मल स्कूल के हेडमास्टर थे, बाद

को डिप्टी कलेक्टर और फिर काशिराज के दीवान नियत हुए। वहाँ से हटने पर बोर्ड ऑव रेवेन्यू के सेक्रेटरी नियुक्त हुए। इन्होंने काशी-पत्रिका समाचार-पत्र निकाला, जो शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत हुआ था। प्रयाग का वेलवेडियर प्रेस इन्हींने स्थापित किया था, जहाँ से संतबानी सीरीज निकलती थी। यह राधास्वामी मत के माननेवाले थे। इन्होंने मर्चेंट ऑव वेनिस के अनुवाद में, जिसे भारतेंदुजी ने दुर्लभ-बंधु नाम से किया था, सहायता दी थी और स्वयं भी वेनिस का सौदागर नाम से उसका स्वतंत्र अनुवाद किया था।

मिर्जापुर निवासी पं० बद्रीनारायणजी उपाध्याय 'प्रेमघन' जी के यह छोटे भाई थे। इन्होंने प्रयाग से बी० ए० की परीक्षा पास

मथुराप्रसाद उपाध्याय

की थी। शेक्सपीअर के प्रसिद्ध नाटक मैकवेथ का अंग्रेजी से हिंदी में 'साहसेंद्र-साहस' नाम से अनुवाद किया है, जो पहिले क्रमशः आनंद-कादंबिनी में प्रकाशित होता रहा और बाद को सन १८६३ ई० में पुस्तकाकार छपा। अनुवाद की भाषा क्लिष्ट संस्कृत-गर्भित और यत्र-तत्र पूर्ण संस्कृत हो गई है। इनकी शैली इनके अग्रज ही के प्राय समान है। गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में सफलता-पूर्वक अनुवाद हुआ है तथा नामों को भी संस्कृत रूप दिया गया है।

गदाधर भट्ट

यह श्रद्धेय महात्मा पं० मदनमोहनजी मालवीय के पितृव्य थे। इन्होंने मुद्राराक्षस का भी अनुवाद किया था पर भारतेंदुजी के अनुवाद को देखकर अपना अनुवाद नहीं प्रकाशित कराया। इन्होंने शूद्रक

के मृच्छकटिक का हिंदी अनुवाद किया है, जो अच्छा हुआ है। हिंदी प्रदीप के सितंबर, सन् १८८० ई० के अंक में इसका छपना आरंभ हुआ था।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपने 'नाटक' निबंध में अपने समय के नाटकों की जो सूची दी है, उसमें इनका नाम भी दिया गया है। इन्होंने संस्कृत से मृच्छकटिक का और

ठाकुर दयालसिंह अंग्रेजी से मर्चेंट ऑव वेनिस का 'वेनिस का सौदागर' नाम से अनुवाद किया था। दोनों ही अनुवाद देखने में नहीं आए।

आपका जन्म चैत्र कृष्ण १३ सं० १९१९ को हुआ था। आप जयपुर-निवासी थे पर साहित्य-सेवा का अधिक कार्य आबू में हुआ था, जहाँ यह जयपुर राज्य की ओर से

पुरोहित गोपीनाथ एजेंट गवर्नर-जेनरल के यहाँ बहुत दिनों तक रहे थे। इन्होंने आगरा कॉलेज से सन १८८९ ई० में एम० ए० परीक्षा पास की थी। इन्होंने गद्य पद्य की अनेक रचनाओं के सिवा शेक्सपियर के कई नाटकों का हिंदी में अच्छा अनुवाद किया है। 'ऐज़ यू लाइक इट', 'रोमियो एंड जूलियट' का प्रेमलीला नाटक के नाम से तथा 'मर्चेंट ऑव वेनिस' का वेनिस का बैपारी नाम से अनुवाद किया था, जो सभी श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बंबई से प्रकाशित हुए हैं। भाषा आदि के विचार से अनुवाद अच्छे हुए हैं।

गुप्तजी का जन्म पंजाब के जिला रोहतक में सन १८६५ ई० में हुआ था। आरंभ में यह उर्दू पत्रों में लेख लिखा करते थे पर कुछ पर हिंदी का अध्ययन बराबर जारी रखा। इसके अनन्तर

कई पत्रों के संपादक रहे। इनकी मृत्यु कलकत्ते में भारतमित्र का संपादन करते हुए सन् १९०७ ई० में हुई।

बालमुकुंद गुप्त इन्होंने भारतेंदुजी की रत्नावली के अधूरे अनुवाद को देख कर उसका पूरा अनुवाद करने का निश्चय किया। 'स्वर्गीय भारतेंदु जी पर बहुत भक्ति होने के कारण मैंने यह काम किया।' यह अनुवाद सन् १८९८ ई० में पूर्ण हो चुका था पर उसे पुनः 'शुद्ध और सरल' बनाकर सन् १९०२ ई० में प्रकाशित किया। भाषा पर गुप्तजी का कितना अधिकार था, यह सभी हिंदी प्रेमी जानते हैं। यह अनुवाद गद्य-पद्य-मय है और कविता भी अत्यंत सरस हुई है।

इनके पितामह राजपूताना से काशी आकर बस गए और यहीं चैत्र शुक्ल ८ सं० १९१५ को इनका जन्म हुआ था। गृह पर ही संस्कृत का इन्होंने अच्छा अध्ययन किया

अंबिकादत्त व्यास और तीव्र बुद्धि होने के कारण छोटी अवस्था ही में अच्छी कविता करने लगे। सं० १९३७ में इन्होंने साहित्य की आचार्य परीक्षा पास की। सरस तथा शीघ्र कविता करने के कारण इन्हें सुकवि तथा घटिकाशतक पदवियाँ मिलीं। कई स्कूलों में यह हेड पंडित रहे और अंत में सं० १९५५-६ में पटना कॉलेज में यह प्रोफेसर नियत हुए, पर एक वर्ष बाद ही इनका शरीरांत हो गया। इन्होंने प्रायः ७५ पुस्तकें लिखीं, जिनमें कुछ अधूरी और अप्रकाशित रह गईं तथा कुछ संस्कृत में हैं।

सन् १८८० ई० में भारतेंदुजी द्वारा प्रेरित होकर इन्होंने गोसंकट नाटक लिखा था, जो चार वर्ष बाद प्रथम बार खड्ग-

विलास प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसमें तीन अंक हैं और गर्भांक या दृश्य न देकर केवल पट-परिवर्तन से दृश्य बदलते गए हैं। बकरीद के अवसर पर गोहत्या होने का समाचार सुनकर हिंदू जनता मे उत्तेजना फैलती है और वे उसे शांति से रोकने का प्रयास करते हैं। सफल न होने पर अकबर बादशाह के यहाँ जाकर वे प्रार्थना पत्र देते हैं और वह इस पर गोहत्या रोकने की आज्ञा दे देता है। इतनी ही कथावस्तु है। पद्य भी यथास्थान दिए गए हैं। भाषा सरल है पर प्रौढ़ नहीं है। कुछ हास्य रस का भी चौबेजी की अवतारणा में समावेश है। इसी विषय को लेकर उस समय और भी नाटक लिखे गए थे, पर यह उन सब में सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।

'कलियुग और घी' में रूपक रूप मे घी मे चर्बी के मेल पर आक्षेप किया है। कलियुग घी को चर्बी का मेल देकर भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता है और उत्साह तथा एकता उसकी रक्षा करते हैं। आठ पृष्ठ की साधारण रचना है। सं० १९३५ वि० मे निर्मित होकर ललिता नाटिका पहिले उचितवक्ता में प्रकाशित हुई और तब सं० १९४० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह चार अंकों की छोटी नाटिका है और व्रजभाषा में लिखी गई है। कविता अधिक और अच्छी है पर कुल नाटिका रामलीला के लिए लिखी ज्ञात होती है। शृंगार रस के साथ मनसुखा की अवतारणा मे कुछ हास्य का भी पुट मिला है। 'मन की उमंग' मे कुछ कथोपकथन का समावेश है पर वह नाटक नहीं कहला सकता। भट्ट नारायण के वेणीसंहार का व्यासजी ने अनुवाद किया है। इनके 'मरा' [illegible] नाटक, देवपुरुष दृश्य तथा भारत सौभाग्य नाटक भी

लिखा है। संस्कृत में भी एक नाटक लिखा है जिसका 'सामवत' नामकरण किया है।

व्यासजी की भाषा में पंडिताऊपन अधिक है पर विषय की गहनता के अनुसार शुद्ध तथा शिष्ट भाषा भी बराबर मिलती है। लंबे-लंबे वाक्य लिखने में भी आप पटु थे। कविता भी आपकी उच्च कोटि की है। यह सब होते भी नाटक-रचना में आप विशेष सफल न हो सके।

कवि सम्राट् पं० हरिऔधजी उन इने गिने साहित्यकारों में हैं, जिन्होंने अपने बहुमूल्य जीवन के प्रायः पचास वर्ष साहित्य-भांडार को अनूल्य रत्नों से भरने में लगा दिए हैं। अब हरिऔधजी कवि ही प्रसिद्ध हैं पर अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में आपने उपन्यास तथा नाटक भी लिखे थे। 'इस नाटक के प्रथम मैंने कोई दूसरा नाटक लिपिबद्ध नहीं किया है। नाटक क्या, वास्तव बात तो यह है कि एक श्रीकृष्ण शतक नामक लघु पुस्तिका के अतिरिक्त इस नाटक के प्रथम अपर कश्चित ग्रंथ मेरे द्वारा न अनुवादित हुआ है न रचा गया है।' यह रुक्मिणी-परिणय नाटक है पर यह अब इतना प्रचलित नहीं है। हिंदी साहित्य के इतिहासकार भी स्यात् इसे भूल चले हैं। यह नाटक सन् १८६४ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

इस नाटक में नांदी-प्रस्तावना, नौ अंक और एक अतिरिक्त अंक है। याचकों द्वारा श्रीकृष्ण-कीर्तन सुनकर रुक्मिणीजी में उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। रुक्म राजसभा में श्रीकृष्ण का तिरस्कार कर शिशुपाल से रुक्मिणी का विवाह करना निश्चय

करता है, बारात आती है पर श्रीकृष्ण भी रुक्मिणी का पत्र पा कर पहुँच जाते हैं और उसका हरण करते हैं। युद्ध में सभी राजों तथा रुक्म को परास्त कर सकुशल भाई के साथ द्वारिका पहुँच जाते हैं। अतिरिक्त अंक में श्रीकृष्ण का रुक्मिणीजी से परिहास करना अंकित हुआ है।

इस नाटक में कथावस्तु प्रायः सुगठित है और चरित्र-चित्रण भी स्थान के अनुसार यथाशक्ति अच्छा ही हुआ है। कथोपकथन बहुत लंबे-लंबे हैं और स्वगत की मात्रा भी काफी तथा बेढंगी है। दो पुरुष बातें कर रहे हैं पर बीच बीच में मन में स्वगत खूब समझ बूझकर उत्तर देते हैं। भाषा तत्सम संस्कृत शब्दों से भरी है और कितने अप्रचलित क्लिष्ट शब्द भी आ गए हैं। कविता भी इसी प्रकार की भाषा में है। रस शृंगार तथा वीर है पर आधिक्य प्रथम ही का है। वर्ज्य दृश्य बचाए गए हैं और नाटक प्राचीन संस्कृत शैली ही पर लिखा गया है। यह सब होते भी व्यापार की कमी, भाषा की क्लिष्टता और प्राचीनता के कारण नाटक अभिनेय नहीं हो सका है तथा पठन-पाठन के लिए भी काफी मनोरंजक नहीं हुआ है। इन्हीं सब को समझकर हरिऔध जी ने पुनः नाटक-लेखन की ओर कृपा नहीं की। यह केवल सफल कवि ही हैं।

प्रद्युम्नविजय व्यायोग सन १८९३ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। 'फिर यदि मम रचित इस प्रद्युम्नविजय व्यायोग में, जिसको मैंने भाषा-कवि-चक्र-चूड़ामणि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र गोलोक-निवासी के संस्कृत से अनुवादित धनंजय-विजय व्यायोग की छाया लेकर निर्मित किया है, महामहा अशुद्धियाँ बड़े-बड़े भ्रम

हों तो कोई विचित्र बात नहीं है।' इस प्रकार देखा जाता है कि यह रचना संस्कृत व्यायोग के अनुवाद के आदर्श पर बना है और साथ ही तत्कालीन प्रचलित भाषा का नमूना भी है। नांदी तथा प्रस्तावना के अनंतर नाटक आरंभ होता है। प्रस्तावना में वंशावली भी दी गई है और कई नाटक 'बनाने' का उल्लेख भी है। धनंजय-विजय के अनुकरण पर इसमें भी तीन भाग पद्य और एक भाग गद्य है। कथावस्तु इस प्रकार है कि निकुंभ ने यज्ञ में वसुदेवजी तथा आचार्य ब्रह्मदत्त को धमकाया कि यदि उसे यज्ञ में भाग न मिलेगा तो वह यादवों को कारागार में बंद करेगा और ब्रह्मदत्त की पाँच सौ कन्याओं का हरण कर लेगा। यज्ञ का भाग न मिलने पर उसने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की तब प्रद्युम्नजी उन ब्राह्मण कन्याओं को युद्ध कर छीन लाए और निकुंभ के साथी राजाओं को परास्त कर डाला। निकुंभ के श्रीकृष्ण द्वारा मारे जाने की भी सूचना दी गई है। व्यायोग में यह सब युद्ध-कथा दूसरों से वर्णन करा दी जाती है, इसलिए इसमें इंद्र तथा प्रवीर और जयंत के वार्तालाप में युद्ध-वर्णन हुआ है। प्रधान रस वीर है। कविता अच्छी है पर वीर रस की कविता में ओज लाने के लिए भाषा का रूप बिगाड़ा गया है। उदाहरण—

१ तागिड्ड तीर छागिड्ड छुट्टे।
बागिड्ड बीर लागिड्ड लुट्टे॥

२ कृणणण कोपे। चृणणण चोपे।
सृणणण सूर। पृणणण पूर॥

३. चमक्के कृपान। कड़क्के कमान॥

गजके तुरंगं । सजके प्रभंगं ॥

ये नाटक भारतेंदुकाल के अंत में लिखे गए थे और वे भी समय के प्रभाव ही से। इनके अनंतर हरिऔधजी ने कोई नाटक भी नहीं लिखा है अतः इस नाटक-प्रणेता को उसी काल ही में स्थान देना समीचीन ज्ञात हुआ।

यह इटावा के अंतर्गत जसवंतनगर के निवासी थे। इनका जन्मकाल सं० १८६७ है। यह बी० ए० तथा वकालत पासकर हाईकोर्ट के वकील हुए। इन्होंने नाटक-प्रकाश नामक पत्रिका निकाली थी, जिसमें इनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हुई। इन्होंने न्यायसभा नाटक, भ्रमजालक, प्रपंच नाटक, हिंदी उर्दू नाटक लिखे हैं, और इनके सिवा नूतन चरित्र उपन्यास तथा अन्य कई पुस्तकें लिखी हैं।

रत्नचंद

इनका जन्म सं० १६१७ मे आरा जिला के अंतर्गत अख्तियारपुर में हुआ था! आप गद्य तथा पद्य दोनों के सुलेखक थे। कई इतिहास तथा जीवनचरित्र लिखे हैं। इन्होंने सुदामा नाटक गद्य तथा पद्य में लिखा है। पं० अंबिकादत्त व्यास के गो-सकट नाटक का अंग्रेजी मे अनुवाद किया था। भारतेंदुजी, गो० तुलसीदासजी तथा श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की विशद जीवनियाँ लिखी हैं। १५ मई सन् १६३२ ई० को इनकी मृत्यु हो गई।

शिवनंदनसहाय

यह मिश्र थे और इनका जन्म आषाढ कृष्ण २ स० १६१६ को मुरादाबाद मे हुआ था। यह बलदेवप्रसाद मिश्र के बडे भाई थे। यह संस्कृत तथा हिंदी के अच्छे विद्वान थे और इन्होंने कई मौलिक तथा अनुवाद

ज्वालाप्रसाद

ग्रंथ लिखे हैं। इन्हें महोपदेशक तथा विद्यावारिधि की उपाधियाँ मिली थीं। इन्हीं की लिखी सतसई की टीकापर पद्मसिंह-जी शर्मा ने सतसई-संहार लिखा था। मिश्रजी ने सीतावनवास नाटक भी लिखा है, जो अच्छा बन पड़ा है। इसके सिवा वेणी-संहार तथा अभिज्ञान शाकुंतल का अनुवाद किया है। संस्कृत के कई अन्य ग्रंथों का भी आपने अनुवाद किया है। व्याख्यान देने की आपको अच्छी क्षमता थी।

गोस्वामीजी मथुरा-वृंदावन के निवासी थे। इनका जन्म माघ कृ० १५ सं० १६२२ को हुआ था। साहित्य में आचार्य परीक्षा तक तथा अन्य कई विषय प्रथम परीक्षा तक पढ़कर यह संसार के कार्य में लग गए। कुछ दिन पिता के साथ आरे में रहे और वहाँ आर्य पुस्तकालय स्थापित कराया। सं० १६४७ के लगभग काशी आकर यहीं बस गए। इनके मातामह गो० श्रीकृष्ण चैतन्यजी भारतेंदुजी के साहित्य गुरु थे, इस कारण इस सत्संग से इनकी भी रुचि हिंदी की सेवा की ओर गई और इन्होंने कविता, संगीत, जीवनचरित, नाटक, उपन्यास आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ कीं। स्फुट लेख भी लिखे और उपन्यास पर एक मासिक पत्र भी निकालते रहे। उपन्यासों की इन्होंने भरमार कर दी है। कई समाचार पत्रों के संपादक भी रहे और संस्कृत में कुछ रचना की है। ज्येष्ठ शु० ५ सं० १६८६ को आपकी काशी में मृत्यु हो गई।

किशोरीलाल

गोस्वामीजी ने चौपट चपेट प्रहसन तथा मयंक मंजरी नाटक लिखे हैं, जो दोनों प्रायः एक ही समय प्रकाशित हुए हैं। प्रहसन में शुद्ध त्रिया चरित की एक कहानी को रूपक-रूप दिया गया है।

बनारसी लुच्चों की बोली का खूब प्रयोग है, कहीं कहीं अश्लीलता की हद कर दी है। नायिका कुलवधू चंपकलता से ऐसे शब्द कहलाए हैं, जो वेश्याओं के मुख में शोभा पा सकते हैं। मयंकमंजरी नाटक में पाँच अंक बहुत बड़े बड़े हैं। इसमें प्रेमलीला का वर्णन है और शृंगारमय है। गोस्वामीजी ने कविता भी काफी दी है और यत्र तत्र गद्य में भी व्रजभाषा का पुट मिलता है। यह मयंकमंजरी तथा वीरेंद्रसिंह के प्रेम से आरंभ होता है, अनेक बाधाएँ पड़ती हैं पर वे क्रमशः दूर हो जाती हैं और अंत में मिलन होता है। मयंकमंजरी की सखियाँ भी वीरेंद्रसिंह के दोनों मित्रों को व्याही जाती हैं और नाटक समाप्त होता है। यह नाटक अभिनेय नहीं है क्योंकि व्यापार बहुत कम है, केवल कविता भर-कर वृहद्‌काय कर दिया गया है। कविता तथा नाटक दोनों ही साधारण कोटि के हैं।

गोस्वामीजी के ये दोनों नाटक सन् १८६१ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुए थे।

पंजाब में लुधियाना के अंतर्गत जगराओं बस्ती के वंशीधर जी के यह पुत्र थे और इनका जन्म सं० १६२७ में हुआ था।

सुदर्शनाचार्य

इन्होंने घर पर कुछ अध्ययन किया था पर पिता का प्रेम कम हो जाने से यह जयपुर गए और वहाँ कुछ शिक्षा प्राप्तकर काशी चले आए। यहीं कई वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन किया। सं० १६६३ के लगभग इन्होंने अनर्घनल चरित लिखा, जो दो वर्ष बाद वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुआ। यह दश अंक का महानाटक है और इसमें नल तथा दमयंती के विवाह, देशत्याग, विरह तथा पुनर्मिलन की पूरी

कथा है। इसमें नाटककार ने अपनी संस्कृत पदावली अधिक दिया है और यत्र तत्र हिंदी की भी कविता दी है। गद्य की भाषा हिंदी है। यह नाटक विशेष कर प्राचीन संस्कृत शैली पर बना है और श्लोकों का प्राचुर्य है। परंतु ये श्लोक अधिक उत्तम नहीं बन पड़े हैं। इनपर संस्कृत के साहित्य-मर्मज्ञ ही विशेष राय दे सकते हैं।

बलदेवप्रसाद

मुरादाबाद-निवासी पं० बलदेवप्रसाद मिश्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और पौष शुक्ल ११ सं० १९२६ को इनका जन्म हुआ था। हिंदी पढ़कर अंग्रेजी का अध्ययन किया और फारसी, संस्कृत, बँगला, महाराष्ट्री तथा गुजराती का भी कुछ अभ्यास किया। इस प्रकार योग्यता बढ़ाकर आपने साहित्य-सरोज, भारतवासी आदि कई पत्रों का संपादन किया। इन्होंने प्रायः पचीस पुस्तकें लिखी हैं। आपका देहांत श्रावण शुक्ल ७ सं० १९६१ सोमवार को हुआ।

प्रभासमिलन नाटक में श्रीकृष्ण, वसुदेव आदि और नंद-यशोदादि गोपगोपियों का तीर्थयात्रादि करते हुए प्रभास-क्षेत्र में मिलन का दृश्य वर्णित है जिसके कुछ अंग अत्यंत हृदयस्पर्शी हैं। मीराबाई नाटक में सुप्रसिद्ध मीरा का चरित्र रूपक-रूप में वर्णित है जिसमें मीरा के भक्तिरसपूर्ण पदों का भी संकलन यत्र तत्र किया गया है। यह नाटक अत्यंत मनोहर तथा भक्ति से परिप्लुत हुआ है। लल्ला बाबू प्रहसन छोटा होने भी सुरुचिपूर्ण परिहास युक्त है।

परिशिष्ट

कुछ अन्य नाटकों की तालिका

१. अवला-विलाप नाटक—लेखक रुद्रदत्त शर्मा, अध्याप आर्य सभा सहारनपुर। सन् १८८४ के अप्रैल, मई के शुभचिंत के अंकों में छपना आरंभ हुआ था।

२. ज्ञानोदय नाटक—सुदर्शनप्रवर्तक सितंबर सन् १८८१ ई में छपना आरंभ हो गया था। लेखक का नाम नहीं दिया है।

३. अनमेल व्याह-दुःख रूपक—सुदर्शनप्रवर्तक जुलाई स १८८२ ई० मे छपने लगा था।

४. नई रोशनी का विष—हिंदी प्रदीप पौष शु० १६४१ में तीसरा अंक १ गर्भांक प्रकाशित हुआ था।

५. शर्मिष्ठा—माइकेल मधुसूदन कृत—अनुवादक श्री राम चरण शुक्ल। इसका आरंभ हिंदी प्रदीप में मार्च सन् १८८० ई के अंक मे हुआ था।

६. मनमोहिनी नाटक—कलकत्ता-निवासी मोतीलाल जौहर कृत। २ पात्री २ पात्र। हिंदी प्रदीप जुलाई सन् १८८० में छपन आरंभ हुआ था।

७. सरोजिनी नाटक—गणेशदत्त कृत। भारतेंदुजी के नाटक निबंध मे इसका उल्लेख है।

८. सावित्री नाटक—जालधर-निवासी देवराज खत्री कृत। इन्होंने और भी छोटी छोटी कई पुस्तकें लिखी हैं।

६. मिथिलेशकुमारी नाटक—गोरखपुर के अंतर्गत सहगौरी

निवासी विन्ध्येश्वरी तिवारी कृत हैं, जिनका जन्मकाल सं० १६१४ है।

१०. अद्भुत नाटक—जिला कानपुर के एक ग्राम-निवासी कमलाचरण मिश्र रचित। आपने यह एक प्रहसन लिखा है, जो इनके प्रयास पर आप हँस रहा है। सं० १६४१ में यह समाप्त हुआ। अन्य पाँच नाटक लिखने की आपने सूचना दी है पर वे सभी इसी प्रकार के अनर्गल प्रयास होंगे। कविता भी बहुत सी इसमें दी है, जो अत्यंत साधारण है।

११. आनंदोद्भव नाटक—पं० कृष्णविहारी शुक्ल, बदरिका-निवासी कृत। १म भाग, यह प्रहसन है; इसमें छोटे साइज के २७ पृष्ठ हैं। सन् १८८६ ई० में बंबई कल्पतरु प्रेस में छपा है। साधारण है और इसमें संन्यासी, पंडित आदि का वेश्या के फेर में पड़ना दिखलाया गया है।

१२. सर्राफी नाटक—मेरठ की देवनागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री पं० गौरीदत्त कृत। सन् १८६० ई० में गोरखपुर प्रेस से प्रकाशित है। इसमें ३ एक्ट और प्रत्येक में दो दो सीन हैं। सर्राफी (मुंडा) हरफों के कारण महम्मद अली और महमूद अली को एक सा लिखने से एक को थाती दूसरे को सौंपने के कारण सेठजी का सर्वनाश दिखलाते उक्त लिपि की सदोषता बतलाई गई है। गद्य-पद्य खड़ी बोली में है, पृष्ठ संख्या २४ है।

१३. मिथिलेशकुमारी—विन्ध्येश्वरी प्रसाद त्रिपाठी कृत। सन् १८८८ ई० में खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। यह आषाढ़ शु० १० सं० १६४२ को समाप्त हुआ। इसमें भारतेंदुजी के विद्या-सुंदर का अनुकरण किया गया है। कथावस्तु में नाम आदि का

तथा कुछ साधारण हेरफेर है। कथोपकथन बहुत बढ़ा दिया गया है और प्रस्तावना जोड़ी गई है। भारतेंदुजी के कुछ पद भी दिए हुए हैं। पृष्ठ संख्या ६६ है। इसमें ६ अंक अर्थात् दृश्य हैं।

१४. ठगी की चपेट वग्गी की रपेट—हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ द्वारा १८८४ ई० में रचित। भारतजीवन प्रेस से छपा है। यह प्रहसन चार अंकों में है। अति साधारण रचना है। ठगों का चोरी का गहना वेंचने का स्वाँग कर ठगना इसमें दिखलाया गया है।

१५. उद्धव-वशीठि नाटक—मथुरा-निवासी विद्याधर त्रिपाठी उपनाम रसिकेश कृत। प्रथम संस्करण सन् १८८७ ई० में भारत जीवन प्रेस से छपा है। इसमें प्रस्तावना तथा चार अंक हैं। पृष्ठ संख्या ४३ है। पहिले मे गोपियाँ मनसुखा को पत्र देकर श्रीकृष्ण के पास भेजती हैं, दूसरे में मनसुखा द्वारा संदेश पाकर वह उसे लौटाते हैं कि उत्तर उद्धव के हाथ भेजेंगे। तीसरे में मनसुखा लौटकर गोपियों से हाल कहता है और चौथे में उद्धव उत्तर लेकर आते हैं तथा गोपियों के अति विरह-प्रदर्शन पर श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट होते हैं। भाषा व्रजभाषा है। रचना साधारण है।

१६. अकबर गोरक्षा न्याय नाटक—काशी-वासी पं० जगत नारायण रचित। सन् १८६५ ई० मे सदाशिव प्रेस बंबई से प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ संख्या १७५ है। इसमे अस्सी के ऊपर पात्र हैं, साधारण गानों से भरा है, भाषा बिलकुल अशुद्ध और कविता लचर है। उपदेशकपन अधिक है और वैसी ही साधारण थोथी बातें हैं। अकबर, उसके नवरत्न सभी गाकर बातचीत करते हैं, गाने ही मे रोते हँसते हैं।

१७ अश्रुमती नाटक—बंगला से उदितनारायण लाल

वकील गाजीपुर द्वारा अनूदित है। भारत जीवन प्रेस से सन् १८६५ ई० मे प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ संख्या २१७ है। इसमें ५ अंक, ३५ गर्भांक हैं। कथा का सार ऐतिहासिक है पर कथावस्तु अत्यंत बेहूदी कल्पना मात्र है। अनुवाद की भाषा अच्छी है। नाटक-संख्या १८ भी इन्हीं की दूसरी रचना है।

१८. सती नाटक—मूल लेखक मनमोहन वसु। सन् १८८६ ई० मे प्रकाशित। दक्ष-सुता सती के पितृगृह मे यज्ञ-समारोह अवसर पर महादेवजी को निमंत्रण नहीं दिया गया, क्योंकि इन्होंने ब्रह्मसभा में उत्थान न देकर दक्ष का अपमान किया था। सती मना करने पर न मानकर मायके गईं और वहीं शरीर त्याग दिया। यही इस नाटक मे वर्णित है और प्रहसन का भी शांति-राम की अवतारणा मे समावेश है। अनुवाद भी अच्छा हुआ है।

१६. देवाक्षर चरित—बलिया-निवासी पं० रविदत्त शुक्ल कृत। निर्माणकाल सन् १८८४ ई० है। भारतेंदुजी को समर्पित किया गया है। यह गंभीर प्रहसन है और इसमें फारसी अक्षरों के दुर्गुण दिखलाए गए हैं। अंत मे देवाक्षर के गुण दिए गए हैं। यह ४७ पृष्ठों का है और इनका उस समय अभिनय भी हो चुका है।

२०. गंगोत्री नाटक—सारन-निवासी बालमुकुंद पांडेय द्वारा सन १८६५ ई० मे रचित। इसमे प्रस्तावना तथा पाँच अंक हैं। प्रथम मे दो और अन्य सब मे तीन तीन गर्भांक हैं। रचना अति साधारण है, भाषा शिथिल तथा अशुद्ध और रचेता नाट्यकला से अनभिज्ञ हैं। कथावस्तु इतनी है कि नवविवाहिता गंगोत्री धन-लोभ से पितामाता द्वारा राजा के पास पहुँचाई जाती है पर वह अस्वीकार

करती है और उसका पति भी एकाएक पहुँचता है। वह मारा जाता है और गंगोत्री आत्महत्या करती है।

२१. कामिनी-कुसुम नाटक—पं० राधाकृष्ण के पुत्र हरिनारायण चतुर्वेदी कृत। भारतेंदुजी के विद्यासुंदर नाटक को नाम आदि के कुछ हेर फेर के साथ बिलकुल अपना लिया है। कहीं कहीं वाक्य के वाक्य ज्यों के त्यों ले लिए है। इसमे प्रस्तावना बढ़ाई गई है और उसे प्रथम अंक का प्रथम गर्भांक कर दिया है। विदूषक का अंश भी बढ़ाया गया है। रचना साधारण है।

२२. क्या इसीको सभ्यता कहते है?—माइकेल मधुसूदनदत्त की कृति 'एई कि सभ्यता' का हिंदी अनुवाद है, जिसे पं० ब्रजनाथ शर्मा ने किया है। सन् १८८८ ई० मे भारतजीवन प्रेस से प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। यह प्रहसन है और नई सभ्यता को सिगरेट, मांस मदिरादि ही तक समझनेवालों पर आक्षेप है।

२३. बाल्यविवाह नाटक—फर्रुखाबाद-निवासी देवीप्रसाद शर्मा त्रिपाठी रचित। सन् १८८४ ई० मे लिखा गया था पर बाद को संशोधित होकर प्रकाशित हुआ। इसमे बाल्य-विवाह तथा योग्य-अयोग्य के विवाह के दुर्गुण दिखलाए गए है। रचना साधारण है और भाषा भी शिष्ट नही है।

२४. रत्नावली—देवदत्त त्रिपाठी ने संस्कृत से अनुवाद किया है। अनुवाद अत्यंत शिथिल हुआ है। भारतेंदुजी इसको देखकर दुखित हुए थे, जैसा उन्होंने अपने 'नाटक' निबंध मे लिखा है। बाबू बालमुकुंद गुप्त ने भी रत्नावली के अपने अनुवाद की भूमिका मे इसका उल्लेख किया है। देखिए इसी पुस्तक का पृष्ठ ६६।

२५. अद्भुत पतिव्रता नाटक—श्रीनंदकिशोर शर्मा कृत। लाहौर

से प्रकाशित भारतेंदु के अंक १ संख्या १ में इसकी सूचना है।

२६. चंद्रकला नाटिका—श्रीनानकचंद कानूनगो कृत। इन्होंने 'जौनपुर का काजी' नाम से एक छोटा तथा साधारण रूपक और भी लिखा है। ये दोनों क्रमशः लाहौर तथा वृंदावन के भारतेंदु पत्र में सं० १६४०-१ मे प्रकाशित होते रहे। इनमें व्रजभाषा का पुट काफी है।

२७. वीरबाला—एक ऐतिहासिक छोटी-सी नाटिका है, जिसकी सूचना भारतेंदु सन् १८८४ में है कि मथुरा में छपी है।

२८. कल्क्यवतार नाटक—भारतेंदु में अक्तूबर सन १८८३ ई० से छपना आरंभ हुआ था। साधारण छोटा रूपक है।

२९. भंगतरंग प्रहसन—मथुरा के चौबे लोगों का हाल है। छ दृश्यों तक भारतेंदु पत्र में छपा हुआ देखने में आया। लेखक का नाम नहीं दिया है। सन् १८८३-४ में क्रमशः प्रकाशित होता रहा।

३०. दमयंती-स्वयंवर नाटक—सन् १८९५ की हरिश्चंद्र कौमुदी मे इसका विज्ञापन निकला है कि चरखारी के पं० गौरी-शंकर भट्ट से यह पुस्तक मिल सकती है।

३१. 'एक हास्य रस की मटकी' तथा 'वाह बेटा!' ये दो छोटे प्रहसन सन् १८९५ की हरिश्चंद्र कौमुदी में प्रकाशित हुए थे।

षष्ठ प्रकरण

वर्तमान-काल

(१६५०-६५)

प्राचीन-काल के साहित्य को छोड़कर जब हम खड़ी बोली के साहित्य की ओर ही दृष्टि रखते हैं तब ज्ञात होता है कि विक्रमीय बीसवीं शताब्दि का पूर्वार्ध उसके प्रचार का तथा उत्तरार्द्ध उसके प्रसार का समय रहा है। पूर्वार्ध मे भारतेंदुजी तथा उनके सहयोगियों ने काव्य-रचनाओं के सिवा साहित्य के गद्य-भाग के अनेक अंगों के अभाव की पूर्ति की थी और हिंदी-भाषा तथा उसके साहित्य के प्रचार के लिए वड़े प्रयत्न किए थे। 'निज भाषा की उन्नति' के लिए इन साहित्यकारों ने तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण कर दिए थे और उन्हीं सज्जनों के निस्वार्थ प्रयासों का फल है कि उक्त शताब्दि के उत्तरार्ध में हिंदी का इतना प्रसार हो सका है तथा निरंतर अनेक बाधाओं के आते रहते भी वढ़ता जा रहा है। नाटक-साहित्य के लिए भी यही कहा जा सकता है।

विषय-प्रवेश

राजनैतिक परिस्थिति भी बदल रही थी। पिंडारों, ठगों, निरंतर की लड़ाइयों तथा अराजकता से विपन्न भारतीयों को अंग्रेजों का शांतिमय शासन कुछ समय तक अत्यंत प्रिय रहा। ये अपनी शक्ति को इस प्रकार की समझ बैठे थे जो बाह्य

शक्तियों के आगे नगण्य है और जो उनकी रक्षा नहीं कर सकती। परंतु भारत तथा बाहर के अनेक युद्धों तथा बाद के यूरोपीय महायुद्ध में भारतीयों की वीरता जब प्रकट हुई और वे संसार के सभ्यतम जाति के वीरों के समकक्ष घोषित किए गए तब इन्हें भी अपनी शक्ति का कुछ पता चलने लगा। ये समझने लगे कि इनकी शक्ति नगण्य नहीं है और ये भी अपने देश का शासन-भार वहन करने योग्य हैं। अब उनमें प्रचार-काल का दैन्य, शांति के लिए परमुखापेक्षा आदि भाव घटने लगे और संसार में अपने को कुछ करने योग्य पाकर ये स्वातंत्र्य के इच्छुक हो उठे। प्रचार-काल इन्हें इनका पूर्व गौरव तथा वर्तमान कुदशा दिखलाते हुए भविष्य में उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित करता रहा और फलतः प्रसार काल में उन्नति के अनेक मार्ग खुल भी गए।

भारतवासी इधर अनेक शताब्दियों से कूपमंडूकवत् हो रहे थे। संसार में क्या हो रहा है, किस प्रकार कितनी जातियाँ उन्नति के शिखर की ओर कितने धैर्य के साथ बढ़ती जा रही हैं, किस प्रकार वे अपने समाज, साहित्य, व्यापार आदि के उन्नयन में दत्तचित्त हो रही हैं, इन सबका जानना तो दूर रहा ये अपने ही विशाल देश के अनेक प्रांतों में क्या हो रहा है, उसीका पता नहीं पा रहे थे और न पाने का प्रयास ही कर रहे थे। प्रचार-काल में इस प्रकार के पत्र-पत्रादि निकले तथा कुछ साहित्य भी बना, जिससे ये घर बैठे यत्र-तत्र की कुछ बातों का पता पाने लगे। कितने पत्र-सचालक इस काल में लोगों के घर जा-जा कर पत्र पढ़कर सुनाते फिरते रहे और शपथ देकर पुस्तकें पढ़ने को उत्साहित करते रहे। क्रमशः जनता में पठन-पाठन की रुचि जागृत

होने लगी। उक्त काल में पाश्चात्य संसार के साहित्य का हिंदी से संपर्क बंगला के द्वारा ही हो रहा था पर उनके अनंतर जब हिंदी-भाषी भी अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगे तब वह संपर्क किसी मध्यस्थ के द्वारा न रहकर सीधा हो गया। इसमें भी पहिले कुछ बाधा पड़ी। उच्च-शिक्षा प्राप्त लोग पहिले अपने को कुछ विचित्र जीव समझते रहे और हिंदी को ग्रामीण तथा हेय समझकर उससे कुछ छटकते रहे पर क्रमशः यह बाधा भी दूर हो गई और इसके साहित्य के निर्माण में वे भी हाथ बँटाने लगे। अब साहित्य के गंभीर तथा गहन विषयों पर भी हिंदी लेखनी दौड़ने लगी। ऐसे साहित्य के प्रसार से और संसार के साहित्य की परिचय-प्राप्ति से हिंदी मे बहुत कुछ उन्नति हुई तथा आशा है कि भविष्य में और भी होगी।

प्रचार-काल में भाषा तथा शैली के विकास की ओर विशेष दृष्टि न रहना स्वाभाविक था पर प्रसार-काल में इस ओर अधिक दृष्टि दी गई। भाषा विशेष परिपक्व हो उठी और शैली की अनेकरूपता भी दिखलाने लगी। बँगला, गुजराती, मराठी आदि से उपन्यास, नाटक आदि ग्रंथ अनूदित हो रहे थे पर अब अंग्रेजी आदि यूरोपीय भाषाओं से भी अनेक विषयों के ग्रंथ अनूदित होने लगे तथा विशेष छानबीन के साथ मौलिक ग्रंथों की भी रचना होने लगी। पत्र-पत्रिकाओं की विशेष उन्नति हुई और उन्नत साहित्य भी देख पड़ने लगा। हिंदी के ऐयारी, तिलस्म आदि के उपन्यासों के उपरांत, जो उर्दू के तिलस्मी दफ्तरों के आधार पर चल निकले थे, अत्यंत परिष्कृत सामाजिक उपन्यासों की रचना होने लगी।

नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में उपन्यासों के समान उन्नति नहीं दिखलाई पड़ी। भारतेंदुजी तथा उनके मंडल के अस्त होने पर हिंदी-साहित्य-प्रेमियों ने नाटकों की ओर अपनी कृपादृष्टि एकदम कुछ दिन के लिए बंद कर ली। बाबू राधाकृष्णदास का राजस्थान-केसरी या महाराणा प्रताप इस काल का प्रथम तथा अत्यंत प्रचलित नाटक था, जिसका अभिनय कई बार हुआ था। इसके बाद उनकी प्रतिभा मंद पड़ गई और वे कोई नाटक न लिख सके। राव देवीप्रसाद पूर्ण ने चंद्रकला-भानुकुमार नाटक नामक बड़ा पोथा तैयार कर डाला था पर वह अनभिनेय होने के कारण जन-प्रिय न हो सका। बंगला से भी जो नाटक उस समय अनूदित हुए वे भी विशेष चुने हुए न होने के कारण प्रचलित नहीं हुए और बंगला में भी अधिक प्रसिद्ध तथा जन-साधारण और शिष्ट समाज के उपयुक्त नाटकों की रचना बाद ही को हुई। गिरीश बाबू, श्री द्विजेंद्रलाल राय तथा रवि बाबू के नाटकों की रचनाओं के साथ साथ उनके हिंदी अनुवाद निकलने लगे और उसी समय हिंदी में प्रसादजी आदि के मौलिक नाटक भी निर्मित होकर साहित्यक्षेत्र में आने लगे।

अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। नांदी, मंगला-चरण तथा प्रस्तावना का अंग्रेजी नाटकों में अभाव है और उसी-की देखादेखी पहिले पहिल बंगला नाटकों से ये प्रायः एकदम बहिष्कृत कर दिए गए। हिंदी में भी यही हुआ पर क्रमशः। भारतेंदुजी ने भी अपने दो तीन नाटकों में ऐसा किया है पर मंगलाचरण के विचार से आरंभ में एकाध दृश्य मंगल-गान के रख दिए हैं, जैसे नीलदेवी, सती प्रताप आदि के प्रथम दृश्य।

भारतेंदु-काल के बाद वर्तमान-काल के कवियों ने भी इसी प्रकार पहिले कुछ ऐसे दृश्य रखे थे पर अब अनेक प्रमुख नाटककार इन सब की आवश्यकता नहीं समझते।

संस्कृत तथा भाषा के नाटकों में दृश्यों के आरंभ में स्थान, समय तथा उपस्थित पात्रों की अति संक्षिप्त सूचना एक दो पंक्ति में दे दी जाती थी पर अब वर्तमान यूरोपीय नाटकों के समान यह साधारण सूचना मात्र नहीं रह गई है। अब तो कई पृष्ठों तक लंबे लंबे विवरण दृश्यों के आरंभ में दिए जाते हैं। कमरा, बाग, दरबार आदि स्थानों का पूरी सजावट के साथ तथा पात्रों के शृंगार आदि प्रायः सभी बातों का वर्णनात्मक विवरण दिया जाने लगा है। अंकों की संख्या भी कम हो चली है और उनके अंतर्गत दृश्यों की संख्या उसी हिसाब से बढ़ने लगी है। पहिले नाटकों के अभिनय में दो 'इंटरवल' होते थे, इसलिए तीन अंक का होना आवश्यक समझा जाता था। अब तक तीन अंकों से कम के नाटक नहीं देखने में आए हैं पर सिनेमा के विशेष प्रसार होने पर स्यात् दो ही रह जायँ क्योंकि उसमें एक ही 'इंटरवल' होता है।

नाटकों में कविता की कमी होते हुए अब प्रायः उसका अभाव ही हो गया है पर गाने योग्य पद अब भी दिए जाते हैं। इनका कम या अधिक होना नाटककार की रुचि पर है। साथ ही कुछ नाटककारों ने इन गानों की स्वरलिपि भी पुस्तकों के अंत में देना आवश्यक समझ रखा है। स्यात् वे समझते हैं कि प्रत्येक पाठक गायक होगा और उसे यह अभाव खटकेगा। इसकी आवश्यकता तो अभिनय के समय ही पड़ती है और तब कुशल गायक इसे बिना देखे ही काम चला लेता होगा। तात्पर्य यह कि इस

स्वरलिपि का देना न देना समान ही है।

प्राचीन काल के नाटकों में घटना-वैचित्र्य के साथ साथ रस ही पर अधिक दृष्टि रखी जाती थी। भारतीय साहित्य में नाटक या रूपक काव्य ही का एक भेद मात्र है और श्रव्य तथा दृश्य दोनों ही प्रायः साथ साथ विकसित होते रहे हैं। दृश्य भाग में कविता ही का प्राबल्य अभी पूर्व भारतेंदु-काल तक पूर्ण-रूपेण बना हुआ था और उसकी कमी भारतेंदु-काल में होने लगी। यही कारण है कि नाटककारों की दृष्टि कवियों के समान रस ही की ओर अधिक रही। पाश्चात्य नाटककारों की दृष्टि अंतर्प्रकृति के द्वंद्व-प्रदर्शन की ओर विशेष रही और इन रचनाओं का प्रभाव पड़ने पर हिंदी के वर्तमान-काल के नाटकों में दोनों का अच्छा मेल हो गया। कुछ नाटककार ऐसे भी हैं, जो अपने घर की वस्तु को त्याज्य समझकर तथा दूसरों ही की वस्तु को सर्वस्व समझकर उसीके आधार पर हिंदी-साहित्य में नूतनता लाने का प्रयास कर रहे हैं। यह अनुचित ही कहा जा सकता है। वर्तमान काल के प्रमुख कवि बाबू जयशंकरप्रसादजी ने अपने नाटकों में इन दोनों का अत्यंत सुचारु रूप से समावेश किया है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी की मृत्यु के तीन वर्ष बाद सन् १८८८ ई० में काशी में बाबू जयशंकरप्रसादजी 'प्रसाद' का जन्म हुआ था। इनके पितामह बाबू शिवरत्नजी सुरती तथा सुघनी का व्यापार करते थे और इस व्यापार में उन्होंने बहुत धन पैदा किया था। इसी कारण यह सुघनी साहू के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके पिता देवीप्रसाद इन्हें बारह वर्ष का छोड़कर स्वर्गगामी हो गए। इसके

जयशंकर 'प्रसाद'

हुए। इनका अंतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी पुनः चार वर्षीय अवकाश के उपरात सं० १६६० में प्रकाशित हुआ था, जिसके अनंतर स्यात् वह अपने महाकाव्य कामायनी की रचना में अंत तक दत्तचित्त रहे। एक उपन्यास भी इसी काल में तीन-चौथाई लिखा जाकर अपूर्ण ही रह गया।

विशाख की भूमिका में लिखते हैं कि 'इससे पहिले यशोधर्म-देव नाम का एक वड़ा नाटक भी लिखा जा चुका है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होकर आप लोगों के समक्ष उपस्थित होगा।' परंतु यह नाटक नष्ट कर डाला गया। कलियुग में होनेवाले कल्कि अवतार का इन्हीं यशोधर्मदेव में अवतारणा तत्कालीन इतिहासज्ञों की एक प्रस्तावना पर किया गया था। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर भी इसमे एक पात्र था, जिसने अभुक्तमूल में उत्पन्न इस राजपुत्र के गले मे एक यंत्र बनाकर छोड़ दिया था और उसके अनंतर वह बालक त्याग दिया गया था। बड़े होने पर घटनांतर पर यह प्रकट हुआ था। जब यह प्रस्तावना बाद को इतिहासज्ञों द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दी गई तब इन्होंने इस नाटक को नष्ट कर डालना ही उचित समझा। यह अंतकाल मे एक नाटक इंद्र पर लिखने का साधन एकत्र कर रहे थे, जिसमे त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की हत्या आदि का ऐतिहासिक ढंग पर वर्णन करने का विचार था। जिस प्रकार यह अपने हर एक नाटक के आरभ मे भूमिका रूप मे ऐतिहासिक विवेचन करते रहे हैं, उसी प्रकार इस नाटक के लिए भी भूमिका तैयार कर चुके थे। यह पहिले नागरी प्रचा-रिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित कोप-स्मारक संग्रह तथा बाद को उसी सभा की पत्रिका में 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम

सम्राट्' शीर्षक से प्रकाशित हो चुकी है। परंतु काल ने इस नाटक मे हाथ लगाने तक का इन्हें अवकाश नहीं दिया।

प्रसादजी के इन प्रकाशित तेरह नाटकों में आठ नाटक ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं। लिखकर नष्ट किया गया नाटक ऐतिहासिक तथा लिखा जानेवाला पौराणिक था। पुराण भी इतिहास ही है और नाटककार को भी उनपर शुद्ध ऐतिहासिक रंग देने का पक्षपात था अतः दो को छोड़कर इनके सभी नाटक ऐतिहासिक ही कहे जायँगे। यही रचेता ने अपना ध्येय भी 'विशाख' की भूमिका मे प्रकट किया है अतः यह ऐतिहासिक नाटककार ही कहलाएँगे।

प्रसादजी के अनेक नाटकों के कई संस्करण निकल चुके हैं और उन संस्करणों का साथ साथ अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह उन नाटकों मे यथाशक्ति आवश्यकता समझकर परिवर्तन तथा परिवर्द्धन भी करते रहते थे। उनमे यह हठ न था कि जो कुछ लिख चुके वह ब्रह्मवाक्य सा अमिट है और साथ ही यह भी सूचित करता है कि वह स्वाध्यायी तथा अध्यवसायी थे और अपनी रचनाओं को देखते समय विचार करते हुए उनमें परिवर्तन-योग्य स्थलों मे हेरफेर करना अनुचित नहीं समझते थे। दुःख है कि वे अपने सभी नाटकों को दुहराने का अवसर न पा सके, नहीं तो कई विशेष परिमार्जित होकर अधिक मनोरंजक हो उठते।

महाभारत की एक घटना है कि जब ज्ञात वनवास-काल मे युधिष्ठिर आदि द्वैतवन मे निवास कर रहे थे तब दुर्योधनादि ने उनके एकाकीपन को लक्ष्य कर अहेर के बहाने ससैन्य जाकर उन्हें नष्ट करने का निश्चय किया। द्वैत वन के सरोवर पर गंधर्व-

राज चित्रसेन से कौरवों का युद्ध हुआ, जिसमें सभी कौरव पकड़े गए। यह सुनकर युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन ने उन्हें गंधर्वों से छुड़ाया और युधिष्ठिर ने अपने प्रति किए गए दुर्योधन के कुव्यवहारों का ध्यान न कर उसे विदा कर दिया। इसी आख्यान पर युधिष्ठिर की सज्जनता के विचार से सज्जन नाटक लिखा गया। सीधे सादे आख्यान को कथोपकथन देकर एक छोटे रूपक में परिणत कर दिया गया है। इसमें एक प्रस्तावना तथा पाँच दृश्य हैं।

इस रूपक में प्राचीनता की छाप पूर्णरूपेण है। नांदी, प्रस्तावना, विदूषक, भरत-वाक्य आदि सब लाए गए हैं। चरित्र-चित्रण का एक प्रकार स्थानाभाव ही है। कथोपकथन भी संस्कृत नाटकों ही सा है और भाषा में प्रौढ़ता का अभाव भी है। कविता भी व्रजभाषा में साधारण कोटि की है और प्राचीन प्रथानुसार एक तुक में प्रकृति का वर्णन है तो दूसरे में शृंगार या नीति है। दर्देदिल हृदय की पीड़ा के रूप में मौजूद है। विदूषक तथा उसका स्वगत भी व्यर्थ ही दिया गया है। गंधर्वों के सहायक राक्षसगण भी हैं और युद्ध में केवल खड्ग ही का उपयोग होता है। प्रसादजी ने खेमे को संस्कृत रूप पट-मंडप देकर अपने उस स्वभाव की उसी समय से सूचना दे दी कि वह संस्कृत-गर्भित भाषा के पक्षपाती हैं। यह नाटक साधारण कोटि ही का है।

राजा हरिश्चंद्र पुत्र की कामना करते हैं, वरुण इस शर्त पर पुत्र देते हैं कि वह उसका बलिदान उसे दे दें और राजा भी यह स्वीकार कर लेते हैं। पुत्रोत्पत्ति पर अनेक बहानों से हरिश्चंद्र इस कार्य को टालते रहते हैं। अंत में जल-विहार करते समय

इनकी नौका वरुण द्वारा स्तब्ध कर दी जाती है. बलि माँगने पर हरिश्चंद्र का शीघ्र उसे देना स्वीकार करने पर नाव छूटती है। पुत्र रोहित युवा हो चुका है, इसलिए वह प्रतिज्ञा-पूर्ति में प्राण जाने के भय से वन में भागता है और वहाँ से एक ब्राह्मण-पुत्र क्रय कर बलि के लिए लाता है। यज्ञ के समय विश्वामित्र आते हैं और वशिष्ठ को फटकारते हैं। एक दासी आकर विश्वामित्र की स्त्री तथा उक्त बलि-पशु की माता बनती है और विश्वामित्र की प्रार्थना से सब मुक्त होते हैं। बलि-पशु ब्राह्मण-कुमार ने करुणालय की प्रार्थना की थी, इसीसे इसका यह नामकरण किया गया है, नहीं तो वास्तव में इस गीति नाट्य में करुणा तो नाम को नहीं है। बाद के संस्करण में कुछ परिवर्तन किया गया है।

इस नाटक में यह विशेषता है कि ब्राह्मण ही बलि के लिए अपना पुत्र बेचता है, जल्लाद का कार्य ब्राह्मण ही करता है और वशिष्ठ से महर्षि इन सब का समर्थन करते हैं। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बने थे अतः उन्हें वशिष्ठ से बढ़कर दिखलाया गया है। यह स्यात् ब्राह्मणों की प्राचीन रूढ़ महत्ता कम करने को किया गया है। इस कथन से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राह्मण मात्र निर्दोष होते हैं, वे सभी बातों में सबसे बढ़कर रहने का प्रयत्न करते हैं, ऋषित्व में भी, दानवत्व में भी। आरंभ में नांदी और प्रस्तावना नहीं है पर अंत में भरतवाक्य सी ईश-प्रार्थना है। यह अतुकांत कविता में है और नाटककार के अनुसार अतुकांत कविता की उपादेयता का पता लगाने को लिखा गया है। वस्तु-गठन अति साधारण है और पात्रगण साधारण सांसारिक जीव हैं। राजा तथा राजपुत्र दोनों ही प्रण से विमुख रहने ही का प्रयत्न करते

हैं। भाषा सीधी सादी सरल है और जो कुछ कथावस्तु है, उसके उपयुक्त भी प्रांजल नहीं हो सकी है। यही कारण है कि इस कथानक मे वरुण ने स्वयं आकर राजा को प्रतिज्ञा से मुक्त नहीं किया है, केवल शक्तिमान हो जाने से राजा ने अपने को मुक्त मान लिया है। उक्त विचारों से यह नाटक भी साधारण कोटि का है।

भारतेंदुजी ने भारत-दुर्दशा में जयचंद को भारत-दुर्दैव का एक सैनिक इसलिए माना था कि उसने मुहम्मद गोरी को उभाड़कर पृथ्वीराज का सत्यानाश करा डाला था और चौहान तथा राठौर वीरों को आपस के अकारण युद्ध मे कटा डाला था। वहुत दिनों तक इस वैर का कारण संयोगता-स्वयंवर ही बतलाया जाता था, जिसे लेकर उन्हीं के समसामयिक श्रीनिवासदासजी ने संयोगता-स्वयंवर नाटक लिख डाला था। अब यह कथा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। यह भी कहा जाता है कि परास्त होने पर जयचंद गंगाजी में डूब मरे थे। इसी कथा के आधार पर प्रसादजी ने प्रायश्चित्त नाटक लिखा है। इसका वस्तु इस प्रकार है कि दो विद्याधरी आकर तरायन के अंतिम युद्ध का वृत्त कहती हैं और आहत तड़पते हुए जयचंद्र को प्यासा पाकर भी उसे तृप्त न कर उससे प्रायश्चित्त कराया चाहती हैं। द्वितीय दृश्य मे जयचंद्र पृथ्वीराज की बुझती चिता के पास आकर उसकी राख को कुचलने को तैयार होता है पर अंतरिक्ष से विद्याधरी के कथन पर कि इसमें संयोगता की भी राख मिली हुई है, वह रोता हुआ जाता है तथा प्रायश्चित्त करने को तत्पर होता है। तृतीय दृश्य में सभा मे जयचंद्र प्रलाप-सा करता है और चौथे मे मुहम्मद गोरी कन्नौज पर चढ़ाई

करने की तैयारी करता है। पाँचवें में विना युद्ध ही जयचंद्र भागकर गंगा में डूब मरता है।

युद्ध-भूमि में जयचंद्र का आहत होकर तड़पना, वहीं पृथ्वीराज का चिता-संस्कार, उसी समय कन्नौज पर मुसल्मानों की चढ़ाई और विना युद्ध के जयचंद्र का डूब मरना यह सब इतिहास के विरुद्ध है। यह नाटक लड़कों के खेल-सा है और यदि प्रसादजी के साहित्य के प्रेमियों को, जिन्होंने इस नाटक को नहीं देखा हो, यह दिखलाया जाय तो वे कभी इसे उनकी कृति न मानेंगे। सभी दृष्टि से यह नाटक बिलकुल साधारण है और एक ऐसे प्रसिद्ध नाटककार की रचना होने के कारण ही इसपर भी दृष्टि पड़ जाती है।

राज्यश्री नाटककार की उन्हींके कथन के अनुसार प्रथम ऐतिहासिक रचना है। जब यह प्रथम बार इंदु में प्रकाशित हुआ था तब इसमें तीन अंक तथा ५+६+५ दृश्य थे पर जब यह द्वितीय बार पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ तब इसमें चार अंक हो गए। प्रथम के तीन अंकों में भी कई दृश्य बढ़ाए गए तथा कई नए पात्रों की कल्पना भी की गई। मुख्य कथावस्तु इस प्रकार है। स्थाणीश्वर-नरेश राज्यवर्द्धन के भाई हर्षवर्द्धन थे तथा बहिन राज्यश्री थी, जो कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मा को ब्याही थी। मालवपति देवगुप्त कान्यकुब्ज के राज्य तथा राज्यश्री के लोभ से छद्मवेश में कान्यकुब्ज आता है और उपवन में टिक रहता है। ग्रहवर्मा अहेर को जाता है और अपनी सेना के पहुँचने के पहिले वहीं सीमापर मालव की सेना द्वारा घिरकर मारा जाता है। देवगुप्त कान्यकुब्ज को सैन्यविहीन देखकर अपनी गुप्त सेना सहित

दुर्ग तथा राज्यश्री पर अधिकार कर लेता है। यह समाचार पाकर राज्यवर्द्धन ससैन्य कान्यकुब्ज पहुँचता है और गौड़ाधिप नरेंद्रगुप्त भी उसकी सहायता को आता है। इसी समय विकटघोष डॉकू राज्यश्री को बंदीघर से निकाल ले जाता है। राज्यवर्द्धन कान्यकुब्ज पर अधिकार कर देवगुप्त को मार डालता है पर राज्यश्री का पता नहीं पाता। नरेंद्रगुप्त अपने स्वार्थ के लिए राज्यवर्द्धन की हत्या कराता है पर स्वयं भी मारा जाता है। डॉकू राज्यश्री को विक्रय करने निकलते हैं पर दिवाकर मित्र उसकी रक्षा करता है। अब हर्ष-वर्द्धन बदला लेने तथा राज्यश्री को खोजने निकलता है। नर्मदा तट पर पुलिकेशिन से संधि करता हुआ लौटता है। जब राज्यश्री चितारोहण की तैयारी करती है उसी समय हर्षवर्द्धन वहाँ आता है और बातचीत करने के अनंतर अपने राज्य को चला जाता है। यहीं तीन अंक समाप्त होते हैं और इतने में भी प्रायः पूरे तीन दृश्य नए बढ़ाए गए हैं। शांतिभिक्षु, सुरमा, सुएनच्वांग आदि पात्र बढ़े हैं, जिससे कथावस्तु के बढ़ने से चतुर्थ अंक बढ़ाना आवश्यक हो गया। इसी सुरमा से देवगुप्त का प्रणय दिख-लाया गया है, जो विकटघोष डॉकू की स्त्री बनती है और ये ही राज्यवर्द्धन के घातक होते हैं। इतिहास से यह ज्ञात होने पर कि सुएनच्वांग हर्षवर्द्धन के पंचवर्षीय दान-यज्ञ के अवसर पर प्रयाग में मौजूद था, उसे नाटक में लाना भी आवश्यक समझा गया और यह अंक इसी कारण बढ़ा दिया गया। सुएनच्वांग का डाँकुओं द्वारा पकड़ा जाना, उसे बलि देने का प्रयास तथा छूटना इनका तीसरे अंक मे एक दृश्य बढ़ाकर उल्लेख किया गया है। चौथे अक में राज्यश्री घातक को क्षमा करती है और सुएनच्वांग पर

पुनः आक्रमण होता है तथा वह बच जाता है। बौद्धों के षड्यंत्र का पता लगता है और उनका प्रयास विफल हो जाता है। सर्वस्व-दान के अनंतर करद राजाओं का आकर मुकुट आदि राजचिह्न भेंट देने के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

इसका कथावस्तु कुछ जटिल है पर तब भी उसका संगठन अच्छा हुआ है, कहीं कहीं कुछ शिथिल तथा विशृंखल अवश्य हो गया है। चरित्र-चित्रण के विचार से प्रधान पात्री राज्यश्री है पर प्रधान पात्र कौन है, इसमें मतभेद हो सकता है। ग्रहवर्मा का केवल एक बार तथा राज्यवर्द्धन का दो बार उल्लेख है। हर्षवर्द्धन कई बार आता है और देवगुप्त के विषय में भी यही कहा जा सकता है। अब राज्यश्री के पति, दो भाई तथा प्रेमी में से किसे प्रधानता दी जा सकती है? किसी को भी नहीं और यही कारण है कि इनमें से किसीका चरित्र-चित्रण नहीं हो सका है। राज्यश्री ही का चरित्र किसी प्रकार आदर्श राजपत्नी या राजपुत्री के रूप में ऊँचे नहीं उठ पाया है। द्वितीय संस्करण में इसका कुछ सफल प्रयास किया गया है तथा राज्यवर्द्धन को भी ऊँचे उठाया गया है। भाषा साधारण होते भी इसके पहिले के नाटकों से विशेष परिमार्जित है, पर प्रसाद की भाषा-विषयक विशेषता तब भी न आ पाई है। द्वितीय संस्करण में नांदी आदि हटाई गई है। कविता बहुत कम है, केवल कुछ गेय पद दिए गए हैं। इस प्रकार इन चार नाटकों के साथ प्रसाद के नाट्य-निर्माण का प्रथम-काल समाप्त होता है। इसमें प्राचीनता छोड़ने तथा नवीनता लाने का प्रयत्न हो रहा था। भाषा तथा कविता में भी यह अपना नया मार्ग तबतक स्थापित न कर पाए थे। इनकी रचना के सात वर्ष बाद बहुत कुछ अध्ययन करने के

अनतर इनका नया नाटक विशाख प्रकाशित हुआ था।

कल्हण-कृत राजतरंगिणी के प्रथम तरंग में श्लोक १९७ से २७५ तक विशाख नाटक का मूल कथानक दिया हुआ है, जिसके आधार पर यह निर्मित हुआ है। यह शुद्ध इतिहास दंतकथा से आच्छादित कर दिया गया है, जिसे नाटककार ने शुद्ध रूप देकर ग्रहण किया है। पात्र भी प्रायः सभी इतिहास से लिए गए हैं। कथा इस प्रकार है। कश्मीरनरेश नरदेव सुश्रवा नाग की भूमि छीनकर एक बौद्ध विहार को दे देता है, जिससे वह अपनी बहिन रमणी तथा दो पुत्री इरावती और चंद्रलेखा के साथ कष्ट से दिन व्यतीत करता है। एक दिन वे दोनों खेतों में फलियाँ एकत्र करने आती हैं, जहाँ विद्यालय से तुरंत निकला हुआ एक विद्यार्थी, जिसका नाम विशाख था, आ चुका था। वह इनके सौंदर्य तथा दारिद्र्य को देखकर चकित होता है और उनका हाल पूछता है। वे हाल बतलाकर जाती हैं तब बौद्ध भिक्षु आता है। विशाख उसे फटकार कर जाता है तब तक सुश्रवा भी वहीं पहुँचता है। इससे भिक्षु लड़ पड़ता है और इसे कैद कर लेता है पर चंद्रलेखा आकर पिता को छुड़ाती है तथा स्वयं पकड़ी जाती है। विशाख इस समाचार से अवगत होकर राजा के विदूषक द्वारा दरबार मे पहुँचकर कुल वृत्त कहता है। राजा क्रुद्ध होकर स्वय विहार मे जाता है और चंद्रलेखा को देखकर उसपर मुग्ध हो जाता है। आवेश में वह इस विहार तथा राज्य भर के कुल विहारों को नष्ट करने की आज्ञा देता है। इसके अनंतर विशाख तथा चंद्रलेखा का प्रणय और विवाह होता है तथा वे अपनी अलग गृहस्थी जमाते हैं। नरदेव अहेर के बहाने चद्रलेखा के घर आता है और अपना प्रेम

प्रकट करता है। वह इन लोगों का आतिथ्य करने को पहिले तैयार होती है पर उक्त कारण जानकर इन्हें धता कर देती है। महापिंगल विदूषक एक भिक्षु को चैत्य में छिपकर चंद्रलेखा को राजा का प्रणय स्वीकार करने के लिए उपदेश देने को ठीक करता है और वह वैसा करता भी है पर चंद्रलेखा स्वीकार न कर उसके गर्जन-तर्जन को मूर्ति का गर्जन-तर्जन समझकर मूर्छित हो जाती है। प्रेमानंद पहिले से वहाँ छिपा हुआ यह दृश्य देखता रहता है और चंद्रलेखा को समझाता हुआ भिक्षु को धर दबोचता है। विद्यार्थी विशाख खड्ग-हस्त होकर वहाँ पहुँचता है और चंद्रलेखा को लिवा जाता है।

वितस्ता के किनारे नरदेव और पिंगल बातचीत कर रहे हैं और रानीजी भी वहीं पहुँचती हैं। प्रेमालाप के समय वही भिक्षु बंदी रूप में वहीं लाया जाता है, जो सब वृत्त कह डालता है। रानी यह सुनकर उसे छोड़ने को और पिंगल को कैद करने की आज्ञा देती हैं पर जब राजा पिंगल का पक्ष लेता है तब वह नदी में कूदकर आत्महत्या कर लेती हैं। इसके अनंतर पिंगल विशाख से चंद्रलेखा को राजा को दे डालने का प्रस्ताव करता है पर उसके द्वारा मारा जाता है। राजा के सैनिक विशाख और चंद्रलेखा को कैद कर ले जाते हैं। नागों का विद्रोह होता है और राजभवन में आग लगा दी जाती है। विशाख का गुरु प्रेमानंद राजा को बचा ले जाता है और चंद्रलेखा राजा के पुत्र को बचाती है। नरदेव साधु हो जाता है और उनका बालक पुत्र उनका उत्तराधिकारी होता है। अंत में प्रार्थना है।

प्रसादजी ने भूमिका में स्वीकार न करते हुए भी वस्तु-संगठन में बहुत कुछ परिश्रम किया है और उससे यह अधिक रोचक तथा

मनोरंजक हो गया है। प्रेमानंद, पिंगल, तरला तथा दूसरा भि
इनकी कल्पना हैं। पिंगल तथा तरला का परिहास तथा तरला क
भिक्षु द्वारा वंचना, ये दो दृश्य कथा में व्यर्थ से आ पड़े हैं औ
परिहास की तो गंभीर, मननशील प्रसादजी से विशेष आश
रखना ही व्यर्थ है। ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र-चित्रण उन्हीं के
अनुरूप रखा गया है, यह कम बात नहीं है। प्रायः अन्य लेखक
ऐसा करने में अशक्त से हो पड़े हैं या जान बूझकर उन्हें
विकृत कर डालते हैं। विशाख मूल में परदुःखकातर तथा
सहायक विद्यार्थी मात्र है पर प्रसादजी ने उसे सिद्धहस्त तलव-
रिया बना डाला है, जिससे वह पिंगल को मार सका है। इस
हत्या की आवश्यकता भी न थी। स्यात् कुकर्म के साथी को दंड
दिलाना आवश्यक समझकर ऐसा किया गया है और इसीसे उसकी
स्त्री का भिक्षु द्वारा भी सर्वस्व-मोचन कराया गया है। प्रेमानंद संसार-
विरक्त होते हुए भी दूसरों की सहायता करते तथा उपदेश देते दिख-
लाए गए हैं। इस नाटक की भाषा प्रौढ़ है और उसे क्लिष्ट करने का
आयोजन अभी से होने लगा है। कुछ भावुकता भी आ चली है
और उर्दू की चाल पर गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयास भी
दिखलाई पड़ता है। कविता कहीं-कहीं और लंबी-लंबी दी गई है
पर सब खड़ी बोली में है। इनमें प्रसादजी की कविता के नए
मार्ग का भी आभास मिलने लगा है। इस प्रकार यह नाटक
अच्छा बन पड़ा है और विद्वान तथा सर्वसाधारण सभी के
पढ़ने योग्य है।

अजातशत्रु मगधराज बिंबसार का पुत्र था। इन्हें दो रानियाँ
वासवी तथा छलना थीं, जिनमें प्रथम से एक कन्या पद्मावती थी,

जो आवन्ती के राजा उदयन को व्याही थी और दूसरी का पुत्र अजातशत्रु था, जिसका नाम कुणीक भी था। छलना तथा अजात-शत्रु दोनों उच्छृंखल होकर बिंबसार को बाध्य करते हैं कि वह वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर पुत्र को राजसिंहासन सौंप दे। गौतमबुद्ध के उपदेश से ऐसा किया जाता है। देवदत्त बुद्ध का प्रतिद्वंद्वी होकर अजातशत्रु का सन्मतिदाता बनता है और माता-पिता के विरुद्ध उसे उभाड़ता है। काशी प्रांत वासवी के पिता कोशल-नरेश प्रसेनजित् का दिया हुआ है और जब अजातशत्रु के व्यवहार से कुंठित होकर वासवी उस प्रांत की आय अपने पति के लिए लेना चाहती है तब इसीको लेकर कोशल तथा मगध मे दो युद्ध होते हैं। प्रसेनजित् का पुत्र विरुद्धक पिता के विरुद्ध विद्रोह करता है और काशी पहुँचकर शैलेंद्र नामक डॉकू हो जाता है। वह अजातशत्रु का सहायक होकर कोशल के सेनापति बंधुल को मार डालता है और कोशल पर प्रथम युद्ध मे विजय पाता है। श्रावस्ती के उदयन को तीन रानियाँ—वासवदत्ता, पद्मावती तथा मागंधी थीं। अंतिम छलकर पद्मावती को दोषी बनाती है और उदयन नासमझी से उसे दोषी मानकर उसे मारने को तैयार होता है पर ठीक समय पर सब बातें खुलती हैं, जिससे वह पद्मावती से क्षमा माँग लेता है। अब वह कोशलराज की सहायता कर मगध पर विजय प्राप्त करता है। मागंधी भागकर काशी में श्यामा वारविलासिनी बनती है और शैलेंद्र द्वारा मारी जाती है पर बुद्ध द्वारा जिलाई जाने पर भिक्षुनी बन जाती है। बंधुल की पत्नी मल्लिका पति के हत्या कराने तथा करनेवाले दोनों प्रसेनजित् तथा विरुद्धक की सहायता करती है। अजातशत्रु बंदी होकर

कोशल पहुँचता है, जहाँ कोशलकुमारी वाजिरा उस पर मुग्ध होती है। वासवी भी उसे छुड़ाने को कोशल जाती है और वहीं अजातशत्रु तथा वाजिरा का विवाह होता है। मल्लिका इसी समय विरुद्धक तथा उसकी माता के साथ आती है और दोनों को क्षमा दिलाती है। अजातशत्रु को पुत्र होता है और सब बिंबसार के पास जाते हैं, जो सबको क्षमा कर देता है।

वस्तु-संगठन अच्छा हुआ है। ढाई सहस्र वर्ष पहिले की ऐतिहासिक घटना लेकर अजातशत्रु नाटक का कथावस्तु निर्मित हुआ है। इस विषय पर नाटककार ने भूमिका में सभी प्राप्त साधन का उल्लेख किया है, जिससे तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश पड़ता है और नाटककार का अध्यवसाय सूचित करता है। इसी नाटक से प्रसादजी की निजी शैली के नाटकों का आरंभ समझना चाहिए और यही उनके उत्तम नाटकों में प्रथम है। उच्च कोटि के नाटककारों में प्रसादजी की नाम-गणना इस रचना से आरंभ हुई होगी। इसमे आई हुई कविता भी इनकी निजी शैली की है और इनकी भावुकता का रंग गद्य तथा पद्य दोनों पर इसी नाटक से आरंभ होता है, जो आगे क्रमशः अधिक शोख होता चला गया है। इस नाटक मे चरित्र-चित्रण भी अच्छा हुआ है। अजातशत्रु प्रधान पात्र है पर वह दूसरों के हाथों मे खिलौना सा है। माता और देवदत्त के द्वारा उत्साहित होकर अपने सारे परिवार से बिगड़ खड़ा होता है, उन्हें कष्ट देता है, कपट से अर्जित विजय से दंभी हो उठता है पर एकही धक्के मे उसका सब मद उतर जाता है। छलना का राजमातृत्व का दंभ भी इसी प्रकार नष्ट हो गया। उसका निजी व्यक्तित्व कुछ भी नहीं है। विपत्ति क्या,

किसी समय भी वह कुछ कर न सकने योग्य चित्रित हुई है। वह अपने पुत्र को उच्छृंखल मात्र बना सकी, राजदंड सँभालने योग्य न बना सकी। वह साधारण कलह-प्रिय स्त्री मात्र थी। बिंबसार अति निर्बल राजा थे, जो एक ऐसी साधारण स्त्री के कथन मात्र पर सारा राज्य एक बालक को सौंपकर अलग हो गए। गौतम बुद्ध के कथन मात्र से अजातशत्रु राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता था। उसकी उच्छृंखलता, गुरुजन के प्रति उद्दंडता तथा माता-पिता के प्रति अवहेलना प्रकट हो चुकी थी और इसका वह 'विश्वस्त प्रमाण' दे चुका था। प्रसेनजित् बिंबसार से अधिक दृढ़ थे और विरुद्धक कुछ भी न कर सकता यदि वह अजातशत्रु की सहायता न पाता तथा कुछ उपद्रव करने के सिवा वह कुछ कर भी न पाया। वासवी का चरित्र बहुत अच्छी प्रकार चित्रित हुआ है, उसका पातिव्रत्य, वात्सल्य-स्नेह, प्रजाप्रेम सभी आदर्श थे। विमाता होते भी उसका पति-पुत्र अजातशत्रु पर पद्मावती से कम स्नेह न था और अजातशत्रु के पुत्र होने पर जितना उसको आनंद तथा प्रसन्नता हुई स्यात् छलना को भी नहीं हुई। अजातशत्रु को भी अंत में इसका अनुभव हो गया था। पद्मावती वासवी की पुत्री थी, इतना ही उसके विषय में कहना अलम् है, पर बिंबसार की निर्बलता उसमें भी आ गई थी, नहीं तो उसे उदयन से कमसे कम अपना दोष तो पूछना चाहिए था। वासवी में शक्ति थी और योग्यता थी पर वह पति के कारण दब सी गई थी। उदयन उन्मत्त मनुष्य सा, राजा सा नहीं, चित्रित हुआ है। पद्मावती उसकी हत्या कर क्या लाभ उठाती, इस ओर उसने ध्यान भी न दिया। न उस पर व्यभिचार का दोष था और न उसे पुत्र ही

उस समय तक था कि उसे राजमाता बनने का शौक था। मल्लिका का चित्त अत्यंत आतिथ्यप्रिय है, बुद्धदेव के उपदेश से 'मृत्पिंड' की मृत्यु का तुरंत समाचार पाकर भी भिक्षुओं को भोजन कराती है। 'चाँदी का पात्र गिरकर टूटने' के समान ही उसका पतिशोक भी उपदेश पाकर नष्ट हुआ सा दिखलाया गया है। इसी समय महाराजा प्रसेनजित् शोक मनाने नहीं, क्षमा माँगने आते हैं और क्षमा प्राप्त करते हैं, केवल इसलिए कि एक शक्तिशाली सेनापति को उन्होंने ऐसे स्थान पर भेज दिया था, जो आपत्ति-रहित नहीं था। इन्होंने शैलेंद्र डॉकू को बंधुल को मार डालने के लिए आज्ञा भेजी थी, ऐसा इन्हीं की विद्रोही पत्नी का कथन है। बढ़ते हुए सशक्त सामंत को, जिससे राष्ट्र विपन्न हो सकता है, मार्ग से हटा देना राजनीति है और इसके लिए एक महाराजा को अपने तई इतना नीचा दिखलाना अनावश्यक तथा अनुचित था। हाँ, इससे मल्लिका की क्षमा का महत्व नहीं घटता। उसने बंधुल के कपटी घातक विरुद्धक तक को क्षमा कर दिया था, जिससे उसे उतनी भी शिष्टता न मिल सकी जितनी उसके पिता से। गौतम बुद्ध उपदेशक रूप में सर्वत्र वर्तमान हैं पर उनका उनके उपयुक्त चित्रण नहीं हो सका है। अन्य पात्र साधारण कोटि के हैं। एक बात सभी पर लागू है कि वे सब नियति के खिलौने से हैं और उसीके सूत्र के सहारे खेल करते हैं।

भाषा प्रौढ़ तथा प्रांजल है पर भावुकता में फँसी हुई है। ऐसी भाषा सभी प्रकार की साहित्यिक कृतिओं मे समानरूपेण उपादेय नहीं है। नाटकों में सहज सुगम भाषा ही अपेक्षित है, क्योंकि यदि दर्शक अर्थ न समझकर उसपर विचार करने लगे तो उस

बीच पात्र उसके लिए रुका न रहेगा और तब बहुत सी बात दर्शक न सुन सकेगा। इसलिए उसके लिए वैसे गंभीर वाक्यों को बिना समझे उपेक्षा कर छोड़ देना ही पड़ेगा। कविता भी रहस्यवादमयी है और कई स्थानों पर बेकार सी आई है, जैसे गौतम बुद्ध के गाने। बंदीगृह के एकांत में अपने को छिपाती हुई आनेवाली वाजिरा का उस परिस्थिति में गाना दोष ही है। हाँ, उसे स्वगत द्वारा आच्छादित कर दिया गया है, जिसमें वह मन के भीतर ही गा ले।

इस नाटक में किस रस की प्रधानता है, यह कहना कुछ कठिन है। शृंगार, वीर, करुण, शांत सभी हैं पर प्राधान्य किसी का भी नहीं है और नाटककार ने किसीको विशेष रूप से दृष्टि में रखकर लिखा भी नहीं है। आप से आप इन सबका समावेश होता गया है। प्राचीनता का इस नाटक में बहिष्कार सा है। मंगलाचरण या अंतिम प्रार्थना भी नहीं है। थिएट्रिकल के समान यह नाटक तीन एक्टों तथा एक्ट सीनों में विभक्त है। नाटक पठनीय तथा अभिनय योग्य है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' की घटना अत्यंत प्राचीन है और प्रायः कलियुग के आरंभकाल की है। प्रसादजी ने पौराणिक उपादान को बड़े अध्यवसाय से इतिहास का रूप दिया है और स्यात् इसी कारण इसे अजातशत्रु के प्रकाशन के चार वर्ष बाद पूर्ण कर सके थे। अनेक पुराण, ब्राह्मण आदि का मनन कर इस घटना-संबंधी अवयवों को एकत्र कर इस नाटक की कथावस्तु का पूरा ढाँचा तैयार किया गया है। कथावस्तु इस प्रकार है कि अर्जुन द्वारा खांडववन के नागों के नष्ट किए जाने के कारण उनके पुत्र राजा परीक्षित तक्षक नाग द्वारा मारे गए और तब इनके पुत्र

जनमेजय ने नागों से बदला लेने का निश्चय किया। यह पहले की कथा प्रथम दृश्य में मनसा तथा सरमा की बातचीत में पूर्ण रूप से बतलाई गई है। वेद ऋषि का शिष्य उत्तंक गुरुदक्षिणा में गुरुपत्नी की आज्ञा से रानी का मणिकुंडल लाने जाता है। जनमेजय के लोभी पुरोहित काश्यप के ऐंद्र महाभिषेक न कराने पर तुरकावपेय वह कर्म करा देते हैं पर दक्षिणा स्वयं न लेकर उन्हीं पुरोहित को दिला देते हैं। इसी समय उत्तंक आकर रानी से मणिकुंडल माँग लेते हैं। मार्ग में काश्यप के बतलाने पर तक्षक उत्तंक से मिलता है और उसे सोते समय मारकर मणिकुंडल लेने का प्रयास करता है पर वासुकी तथा सरमा के आ जाने से ऐसा नहीं कर पाता। उत्तंक मणिकुंडल ले जाकर गुरुपत्नी को देता है। वह 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' के नाते इसपर प्रेम प्रकट करती है पर यह उसे फटकार कर चल देता है। इसी समय जनमेजय अहेर खेलने आकर धोखे से जरत्कारु ऋषि को बाण मारते हैं और इस एक हत्या के प्रायश्चित्त में अश्वमेध यज्ञ करने को उद्यत होते हैं। उसी तपोवन मे जनमेजय का नागराज तक्षक की पुत्री मणिमाला से साक्षात् होता है और दोनों में प्रेम अंकुरित होता है। उत्तंक गुरुपत्नी से छूटते ही तक्षक का दमन कराने के लिए जनमेजय के पास जाकर उसे नागों के विरुद्ध उभाड़ता है और वह अश्वमेध यज्ञ के लिए अपने तीन भाइयों को तीन ओर भेजकर स्वयं नागों की ओर चढाई करता है। काश्यप तथा अन्य अनेक ब्राह्मण तक्षक से मिल कर जनमेजय के विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं पर नागों पर जनमेजय का आक्रमण हो जाने पर वे हतबुद्धि हो जाते हैं। जनमेजय सोमश्रवा को अपना नया पुरोहित नियत करते हैं और

उनकी सेना बहुत से नागों को मारकर तथा उनके ग्रामों को जलाकर लौटती है। जनमेजय के तीनों भाई भी विजयोपहार लेकर लौटते हैं। अश्व के छोड़े जाने पर तक्षक की बहिन मनसा के उत्साह दिलाने पर नागगण अश्व को पकड़ते हैं और फिर मारे जाते हैं। यज्ञ आरंभ होता है पर काश्यप उसमें विघ्न डालने को तक्षक सहित आता है और उसे अश्व तथा राजमहिषी को ले भागने की सम्मति देता है। पर सरमा, उसका पुत्र माणवक और जरत्कारु ऋषि तथा मनसा का पुत्र आस्तीक इस षड्यंत्र में विघ्न डालते हैं, जिससे तक्षक आदि पकड़े जाते हैं। राजमहिषी को नाग से बचाकर उसे वेदव्यास ऋषि के आश्रम में पहुँचाते हैं। जनमेजय इस विघ्न से अत्यंत कुपित होकर सभी ब्राह्मणों को निर्वासन की आज्ञा देता है और तक्षक आदि नागों को आहुति देने की अनुमति देता है पर उसी समय वेदव्यासजी आस्तीक आदि के साथ आते हैं। अंत में दोनों पक्ष में मेल होता है और नाग-राजपुत्री मणिमाला का जनमेजय से विवाह होता है।

इस नाटक का वस्तु बहुत ही सुगठित है और प्रायः कुछ हेर फेर के साथ प्राचीन ग्रंथों के आधार पर ही निर्मित हुआ है। चरित्र-चित्रण में भी नाटककार को प्राचीन ग्रथों से बहुत कुछ [illegible] मिली है। नायक और प्रतिनायक जनमेजय तथा तक्षक [illegible] अपनी सभ्यता के आदर्श हैं। वासुकि नाग पर [illegible] सरमा का प्रभाव स्पष्ट है और इसके पुत्र [illegible] सरमा स्वयं दो भिन्न सभ्यताओं के बीच पड़कर [illegible] पक्ष में हो गई है क्योंकि उसे दोनों ओर [illegible] था पर उसका भी प्रभाव क्रमशः दोनों पर [illegible]

नागराजवंश का रक्त अत्यधिक उष्ण था पर समय तथा अयाचित प्रतिफल ने उसे शीघ्र ठंढा कर दिया। आस्तीक ऋषिपुत्र था और उसने अंत तक बड़ी महत्ता के साथ अपने पद का निर्वाह किया। उसका ध्येय भी अति उच्च था और उसनें वह सफल हुआ। इनके सिवा अन्य पात्रगण साधारण हैं पर उनका उपयुक्त चित्रण हुआ है। भाषा 'प्रसाद'—युक्त है और बात-चीत में शास्त्रीय बातें अत्यधिक आ गई हैं, जिससे यह नाटक अभिनय से अधिक पठन-पाठन के उपयुक्त हो गया है। 'नियति-चक्र' को नाटककार इसमे भी नही भूले और कैसे भूलते, सभी इसीमें फँसे हुए हैं। नाटक का प्रधान रस वीर है पर कहीं कहीं शृंगार का भी पुट है। प्रसन्नता है कि इसमें हास्य का परिहास नहीं किया गया है। प्रसादजी के अच्छे नाटकों मे यह एक है, इसमें कुछ भी शंका नहीं। गाना या कविता इसमें बहुत कम हो गई है और जो है वह किसी वाद मे नहीं पड़ी है।

रचनाक्रम मे नागयज्ञ के बाद 'कामना' आती है, जो एक नए मार्ग पर निर्मित हुई है। सांसारिक माया से दूर प्रकृति की अंचल में पले हुए मानव-समाज की कामना किस प्रकार विलास की लालसा के फेर मे पड़कर नीचे की ओर गिरती है, इसीका इसमें भावुकता-पूर्ण वर्णन किया गया है और इस कार्य में जितनी सुवृत्ति तथा कुवृत्ति का सहयोग होता है, उन्हीं भावों को मूर्त रूप देकर पात्र निर्वाचित करते हुए नाटक का निर्माण किया गया है। कामना और सतोप का द्वंद्व सहज स्वाभाविक है, एक बढ़ती है, दूसरा उसे रोकता है। यदि यह अकुश न हो तो उच्छृ खल कामना कहाँ तक बढ़ जाय, इसकी सीमा नहीं। पर इसके विपरीत विनोद

तथा लीला और विलास तथा लालसा का साहचर्य सहज सुलभ है। प्रथम में द्वंद्व होते भी उसी कारण साहचर्य आवश्यक है, इसीलिए ये तीन युग्म नाटककार ने स्थापित किए हैं। कथावस्तु इस प्रकार गठित किया गया है कि कामना अपनी इच्छाओं पर विचार कर रही है और संतोष से कुछ रुष्ट है, इसी समय अनजान देश से विलास स्वर्ण लेकर आता है, जिस पर वह आकर्षित होती है। विलास उसे उत्तेजित करता है और उसके द्वारा मानवसमाज पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है। वह मदिरा का उत्पादन करता है और स्वर्ण-मदिरा का सहयोग उसके कार्य में सहायक होता है। विनोद का लीला के साथ विवाह कराकर उसे अपने पक्ष में करते हैं। कामना रानी बनाई जाती है और नैसर्गिक स्वतंत्र-सत्ता नियमबद्ध की जाती है। मदिरा तथा स्वर्ण का लोभ अनेक अपराधों का कारण होता है. शांतिदेव का प्राण-विसर्जन होता है और दंभ, प्रमदा आदि का व्यापार बढ़ता है। स्वर्ण के लिए अन्य राजों पर आक्रमण और रक्तपात होता है। सशक्तों की दुर्वृत्ति को पूर्ण न करनेवाले दंड-विधान की ओट में बलि दिए जाते हैं। विलास की लालसा से पट गई थी और ब्याह हो चुका था। विवेक सर्वत्र आड़े आता है पर उसकी कोई नहीं सुनता। अंत में विवेक सफल होता है और विलास तथा लालसा से आहत हुओं की रक्षा कर उन्हें अपनी ओर मिलाता है। दैवी कोप से विलास का नवीन नगर भूकंप से नष्ट हो जाता है और अंत में विलास-लालसा के गर्त की ओर बढ़ती हुई कामना संतोष का पल्ला पकड़ती है तथा नाटक का अंत होता है।

इस नाटक का द्वितीय संस्करण में कुछ परिष्करण हुआ है पर वह केवल सिंगार को शृंगार, नाज को अन्न आदि करने में ही सीमित है। इस नाटक का उठान जिस प्रकार का है, अंत वैसा नहीं हो सका है। भावात्मक नाटक लिखने में प्रसादजी सफल नहीं हो सके हैं और इसी कारण इस ओर फिर इन्होंने दृष्टि नहीं दी। भाषा संस्कृत-गर्भित होते भी मधुर तथा वस्तु के अनुकूल है। कुछ पद भी सुंदर हैं।

भारत पर यूनानियों के आक्रमण तथा उनके प्रभाव का शुद्ध असंदिग्ध विस्तृत इतिहास अब तक भी नहीं लिखा गया है और इसी प्रकार मौर्य-साम्राज्य के संस्थापन का भी पूरा इतिहास प्राप्त नहीं है। ये दोनों घटनावली एक दूसरे से इस प्रकार मिली हैं कि एक का लेखक दूसरे से अपने को नहीं बचा सकता। परंतु इन्हीं घटनाओं से लेकर संस्कृत मे एक नाटक डेढ़ सहस्र वर्ष पहले मुद्राराक्षस नाम से विशाखदत्त द्वारा निर्मित हुआ था और उसमें चंद्रगुप्त मौर्य के सम्राट् होने पर उसकी राज्यश्री के स्थिरीकरण के लिए चाणक्य द्वारा किए गए प्रयासों का वर्णन है। उसके अनंतर वर्तमानकाल मे बंगला मे द्विजेंद्रलाल राय ने चंद्रगुप्त नाटक लिखा, जिसका हिंदी मे बीस वर्ष हुए कि अनुवाद हो चुका है। इस समय के पहिले ही प्रसादजी चंद्रगुप्त मौर्य पर अपना ऐतिहासिक विवेचन प्रकाशित कर चुके थे और कल्याणी-परिणय नाम से एक छोटा रूपक भी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छपा चुके थे। अंत मे उस सब अध्यवसाय के फल स्वरूप प्रसाद जी का यह बृहत् नाटक चंद्रगुप्त सं० १९८५ मे पूरा हुआ, जो दो तीन वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। इसका वस्तु-व्यापार जटिल

होते हुए भी विशेप सुश्रृंखलित तथा सुगठित हुआ है। वस्तु इस प्रकार है—

चाणक्य अपना स्वाध्याय पूर्ण कर तथा कुछ दिन के अध्यापन कार्य से गुरुदक्षिणा चुकाकर तक्षशिला के गुरुकुल से निकलते हैं। इसी समय इसी गुरुकुल से मगधवासी चंद्रगुप्त तथा मालव (मल्लोई) राजकुमार सिंहरण भी स्नातक हो अपने अपने गृह लौटते हैं। यहीं गांधार के राजकुमार आंभीक तथा राजकुमारी अलका से इन लोगों का परिचय होता है और अलका तथा सिंहरण में प्रेमांकुरण भी होता है। चाणक्य तथा चंद्रगुप्त मगध लौटते हैं। मगध-नरेश नंद कहाँ तक विलास तथा अत्याचार में निमग्न है, यह दिखलाते हुए चाणक्य के पिता का निर्वासन, शकटाल का सवंश नाश और चंद्रगुप्त के पिता का वंदी होना सूचित किया गया है। नंद की राजसभा में चाणक्य तथा चंद्रगुप्त दोनों ही आर्यावर्त पर यवन-आक्रमण की सूचना देते हुए सभी नरेशों का मिलकर उसे विफल करने की सम्मति देते हैं पर नंद नहीं स्वीकार करता। पौरव पर्वतेश्वर से वह इस कारण चिढ़ गया है कि उसने शूद्र नरेश की कन्या से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। इसी सभा में चाणक्य की शिखा खींची जाती है और वह प्रतिज्ञा करता है कि नंद-कुल के निःशेष होने पर ही वह बाँधी जायगी। गांधार का राजकुमार आंभीक अलक्षेंद्र (सिकंदर) का पक्ष लेता है, जिसमें वह पर्वतेश्वर से बदला ले सके। उसकी बहिन अलका इसके विरुद्ध थी और उनको एक मानचित्र के कारण यवन सेल्यूकस बंदी रूप में वृद्ध गांधार-नरेश के सामने ले जाता है। वह वृद्ध, पुत्र तथा पुत्री दोनों की बात न

रख सकने पर राज्य को पुत्र को सौंपकर पुत्री की खोज में चला जाता है। चाणक्य, चंद्रगुप्त की सहायता से कारागार से मुक्त होकर पर्वतेश्वर के पास आता है पर वह मगध के षड्यंत्र में सहायता देना अस्वीकार कर देता है। चाणक्य, चंद्रगुप्त, अलका, सिकंदर आदि दांडायन ऋषि के आश्रम में एकत्र होते हैं और यहीं ऋषिजी चंद्रगुप्त को भारत का भावी सम्राट् घोषित करते हैं। चंद्रगुप्त पहिले एक बार मगध की राजकुमारी कल्याणी की चीता से रक्षा कर चुके थे और अब सेल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया की आततायी फिलिप्स से रक्षा करता है। सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त की सिंह से रक्षा की थी और उसीके अनुरोध से वह ग्रीक शिविर में उपस्थित था। सिकंदर का प्रस्ताव था कि चंद्रगुप्त उसकी ग्रीक-वाहिनी की सहायता से मगध पर अधिकार करे पर उसने स्वीकार नहीं किया और ग्रीक-शिविर से निकल गया। अब चाणक्य की कूट-नीति का आरंभ होता है। वह अपने साथियों के साथ पर्वतेश्वर की सेना मे मिल जाता है। कल्याणी के अधीन मगध की छोटी सेना में मिलकर ठीक समय पर ये लोग पर्वतेश्वर को सहायता पहुँचाते हैं पर सिकंदर युद्ध रोककर पर्वतेश्वर से मैत्री करता है। अब चाणक्य आदि उसका साथ छोड़कर यवनों को रोकने का दूसरा प्रबंध करते हैं। सिंहरण तथा अलका पर्वतेश्वर के यहाँ बंदी होते हैं पर अलका के षड्यंत्र से प्रथम मुक्त किया जाता है। चाणक्य के प्रयास से मालव-क्षुद्रक दो गणतत्र मैत्री कर सिकंदर को रोकने का प्रयत्न करते हैं और चद्रगुप्त उसका सेनापति नियत होता है। सिकदर अपनी सेना के दो भाग करके स्थल तथा जलमार्ग से यात्रा आरंभ करता है पर

इसका विचार मार्ग के गणराज्यों को विजय करते हुए जाने का था। मालव दुर्ग पर आक्रमण करते समय सिकंदर घायल होता है और लौट जाता है। इसी समय सिंहरण तथा अलका का विवाह होता है। चंद्रगुप्त कल्याणी, मालविका तथा कार्नेलिया तीनों को आकर्षित करता है और स्वयं उन पर आकर्षित होता है। सिकंदर के साथ कार्नेलिया भी चंद्रगुप्त से मिलकर लौट जाती है। कल्याणी भी मगध लौट जाती है। चाणक्य ने छल से राक्षस को रोक रखा था, जिसमें मगध में इसका षड्यंत्र बिना विरोध चलता रहे पर पता लगने पर या चाणक्य का काम पूरा हो जाने पर वह मगध लौटता है। इधर चाणक्य पर्वतेश्वर को आधा मगध राज्य देने का लोभ देकर साथी बनाता है और मगध में विप्लव की तैयारी को पूर्ण कर लेता है। जिस समय राक्षस मगध के राजभवन में पहुँचता है, उस समय नंद सुवासिनी पर बलात्कार करने को उद्यत मिलता है। इसे देखते ही वह उसे छोड़ देता है। चाणक्य भी कुसुमपुर पहुँचता है और शकटाल अंधकूप से छुटकारा पाकर प्रतिहिंसा को उद्यत होता है। नगर में नंद के अत्याचारों के कारण विद्रोह सुलग रहा था, जिसे यह और भी भड़काता है। नंद की राजसभा में सेनापति मौर्य की पत्नी आकर उस पर महापद्म के रक्तपात तथा अपने पति के बंदी किए जाने का दोष लगाती है। वह तथा उसकी रक्षा करने में वररुचि दोनों कैद किए जाकर कारागार में भेजे जाते हैं। इसी समय चाणक्य के जाली पत्र तथा मुद्रा को पाकर नंद राक्षस को विवाह-मंडप से पकड़ लाने की आज्ञा देता है और मालविका जो पत्र लाई थी, कैद होती है। ये नंद कैदी

शीघ्र ही शकटार के बनाए मार्ग से छूटकर निकलते हैं और चाणक्य तथा चंद्रगुप्त से मिलते हैं। पर्वतेश्वर भी अपनी सेना के साथ आ जाता है। राक्षस के पकड़े जाने पर नगर में बड़ी उत्तेजना फैलाई जाती है, शकटार आदि की कष्ट-गाथा उसे और प्रज्वलित करती है। राजसभा में सभी पहुँचते हैं और नंद बंदी बनाया जाता है। इसी समय कल्याणी को बंदिनी बनाए पर्व-तेश्वर आता है, जिसे देखकर नंद क्षमा चाहता है पर शकटार उसे मार डालता है। परिषद् चंद्रगुप्त को गद्दी देता है। अनाथिनी कल्याणी एक ओर चली जाती है। राजोद्यान में पर्वतेश्वर उसे छेड़ता है, पकड़ता है और तब वह उसी के छूरे से उसे मार डालती है। चंद्रगुप्त और चाणक्य आते हैं तथा उनके सामने वह आत्महत्या कर लेती है। चंद्रगुप्त दक्षिणापथ विजय करने जाता है और वहाँ से लौटने पर राक्षस उसे रात्रि में मार डालने का षड्यंत्र करता है पर मारी जाती है मालविका और चंद्रगुप्त बच जाता है। सिकंदर की मृत्यु पर सेल्यूकस पूर्वीय प्रांतों का राजा बनता है और भारत पर चढ़ाई करता है। आंभीक भी मौर्य-साम्राज्य का पक्ष लेता है और युद्ध में सेल्यूकस मागध सेना से परास्त होकर बंदी होता है। इसके बाद संधि होती है और सेल्यू-कस की पुत्री कार्नेलिया से चंद्रगुप्त का विवाह होता है। चाणक्य राक्षस को प्रधान मंत्री नियुक्त कराकर वन को चला जाता है।

नाटक के विषय में लिखने के पहिले एक बात विशेष रूप से विचारणीय है और ऐसी हालत में जब नाटककार 'मौलिक इतिहास के अन्वेषक' भी हैं। सिकंदर सन् ३२७ पूर्वेसा में भारत आया और प्रायः डेढ़ वर्ष भारत में रहकर लौट गया था। नाटक

इस आक्रमण के कुछ पहिले ही से आरंभ हो जाता है। इसका अंत सेल्यूकस के पराजय तथा संधि से होता है। यह संधि सन् ३०३ पूर्वेसा में हुई थी। इस प्रकार इस नाटक का वस्तु-काल २५ वर्ष का हो जाता है, जो नाट्यशास्त्र के अनुसार वर्ज्य है। इस लंबे काल से किस प्रकार नाटक को हानि पहुँचती है, वह इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आरंभ में कैशोर या युवा थे, वे अंत होते होते प्रौढ़ या वृद्ध हो चलते हैं पर नाटककार इधर न ध्यान रखकर उस अवस्था में उनको वही कैशोर या युवा समझता हुआ उनका विवाह आदि कराता है। इसीसे कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी, चंद्रगुप्त, राक्षस आदि २५ वर्ष बाद भी युवा माने जाते हैं और चालीस, पचास वर्ष की स्त्रियों का विवाह होना बतलाया जाता है। इस प्रकार के दोष से स्वाभाविकता का नाश किया जाता है। संधि के पाँच वर्ष बाद ही चंद्रगुप्त की मृत्यु होती है या वह राज्य त्याग देता है और उसका पुत्र बिंदुसार या अमित्रघात गद्दी पर बैठता है। ऐसी अवस्था में वह कार्नेलिया का स्वामी नहीं हो सकता और स्वयं ही वह किसी अन्य रानी का पुत्र रहा होगा। ऐसी अवस्था में [illegible]

इस प्रकार के लंबे काल के वस्तु को लेने का [illegible]

पर और उसे बहुत कुछ संक्षेप करने पर भी चार अंक और उनचास दृश्य देने पड़े हैं। कुछ अधिक विस्तार करने पर इसी कथावस्तु से दो अच्छे नाटक बन जाते और उक्त दोषों के आ जाने की भी संभावना न रह जाती। नंद वंश के पतन तक ही यदि नाटक समाप्त हो जाता और यदि नंद-पुत्री से विवाह कराकर चंद्रगुप्त के नए साम्राज्य को दृढ़ता दी जाती, तो अच्छा ही होता।

व्यापार शृंखला के आधिक्य के कारण चरित्र-चित्रण की ओर भी नाटककार विशेष दत्तचित्त नहीं रह सका है क्योंकि इसी कारण पात्रों तथा पात्रियों की सूची भी बहुत बढ़ गई है। घटना-वैचित्र्य लाने के लिए अकारण भी दृश्य बढ़ाए गए और पात्र भी। कल्याणी को चीते से और कार्नेलिया को मनुष्य रूपी चीते फिलिप्स से बचाना भरती मात्र ज्ञात होता है। कल्याणी और उसकी सखियाँ तथा मालविका की भी कोई विशिष्ट आवश्यकता नहीं है। पर्वतेश्वर इतिहास-प्रसिद्ध पोरस या पुरु नहीं रह सका है, उसकी महत्ता कम कर दी गई है। चंद्रगुप्त का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है, पर आरंभ से अंत तक वह एक-सा विकासोन्मुख नहीं कहा जा सकता। वह शस्त्रकुशल युवा वीर के समान सिंहरण की आंभीक से रक्षा करता है और चीते से कल्याणी की। इस रक्षा का उल्लेख भी नंद से नहीं किया गया है। राजसभा में चंद्रगुप्त चाणक्य का पक्ष लेता है पर वह सुना नहीं जाता। जिस राजवंदीगृह में 'समीर की गति भी अवरुद्ध है' वहीं से दो दो अमात्यों के सामने अकेला चंद्रगुप्त द्वाररक्षकों को मारकर चाणक्य को छुड़ा ले जाता है। ऐसा वीर पथ चलते चलते इतना

थक गया कि बेहोश होकर गिर पड़ा. जब चाणक्य बिना थके जल लेने जाता है। व्याघ्र आकर उसके पास बैठता है और सेल्यूकस ठीक समय पर पहुँचकर उसे मारकर उसकी रक्षा करता है। चोटैल हिंसक व्याघ्र मरते हुए पास में पड़े चंद्रगुप्त पर कल्याण का एक हाथ भी न रख सका और एक तीर खाकर चुप-चाप ऐसा मर गया कि चंद्रगुप्त जान भी न सका। जल से सिंचित होकर उठते ही चंद्रगुप्त सेल्यूकस का कृतज्ञ बनाया जाता है. किसलिए? इसीलिए कि आगे चलकर वह इसी कृतज्ञता के कारण सेल्यूकस को छोड़कर उसकी पुत्री का वरण करे। यह अनावश्यक था क्योंकि भारतीयों की शत्रुओं को छोड़ देने की यह उदारता पृथ्वीराज से अधिक स्पष्ट थी। क्या अन्यत्र गोरी ने भी कभी इसी प्रकार पृथ्वीराज की रक्षा की थी। इसके अनं-तर दाण्डायन चंद्रगुप्त के विषय में भविष्यवाणी करते हैं। वह कार्नेलिया पर मुग्ध हो ग्रीक-शिविर में जाता है और वहां इसकी रक्षा कर तथा सिकंदर से दो बातकर चंद्रगुप्त सिकंदर की विरुद्ध वाहिनी से निकल भागता है. इसे कोई नहीं देख सका! [illegible] पर ठीक समय पर पर्वतेश्वर की रक्षा करने पहुँचता है पर [illegible] हो जाता है। चंद्रगुप्त वहां से लौटकर [illegible] के स्थान में [illegible] करता है तथा [illegible] करता है [illegible]

सिंहरण तथा चंद्रगुप्त सिकंदर और सेल्यूकस को क्रमशः छोड़ देते हैं। सिकंदर के लौटने के समय कार्नेलिया तथा चंद्रगुप्त की बातचीत मे दोनों का पारस्परिक प्रेम दिखलाया गया है। अब चंद्रगुप्त कुसुमपुर मे विद्रोह कराता है और नंद का पक्ष निर्बल होने से उसे कैद करता है। कल्याणी के विचार से भी उसकी रक्षा नहीं करता तथा राजहंता शकटार उसे मार डालता है और उसी के शव पर चंद्रगुप्त का सिंहासन लगता है। इसी कारण स्यात् कल्याणी आत्महत्या करती है पर वह मुद्राराक्षस के विष-कन्या का काम भी पूरा करती है। इसके अनंतर चंद्रगुप्त दक्षिण-विजय को जाता है और वहाँ से लौटने पर मालविका की बलि लेकर सेल्यूकस को रोकने पंचनद जाता है। उसको बंदी कर कृतज्ञता के कारण छोड़ देता है और कार्नेलिया को छूरी छीन कर आत्महत्या से बचाता है। दोनों के विवाह के साथ नाटक समाप्त होता है। चंद्रगुप्त का चित्र सांगोपांग उतर गया अवश्य पर भारतीय आदर्श वीर सा नहीं। वह चाणक्य के हाथ का खिलौना था, कार्य मे भी विचारों में भी। वह यश, स्वार्थ तथा सौंदर्य सभी का लोलुप सा बन गया है।

मुद्राराक्षस के चाणक्य तथा राक्षस से इस नाटक के चाणक्य तथा राक्षस बहुत नीचे गिर गए हैं। राक्षस मे व्यक्तित्व नाम को भी नहीं है। चाणक्य का ध्येय उत्तम है, आक्रमणकारियों को देश से निकालना और आर्यावर्त मे साम्राज्य स्थापित करना पर साथ ही उसकी बात को जो भी न माने उस पर अकारण ही क्रोध कर उसे नष्ट करने की प्रतिज्ञा करते चलना, उसको आदर्श ब्राह्मणत्व से एक दम गिरा देता है। उसकी 'काल सर्पिणी

शिखा' कल्याणी की मृत्यु पर नंद-वंश के निःशेष होने से बँधनी चाहिए थी पर नहीं बँधी। वह 'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी' ही से निकाल सकता था। वह अपने खिलौने पर दूसरे के हाथ को कंटक समझता था।

सिंहरण का चित्रण अच्छा हुआ है, वह आदर्श वीर, मित्र तथा शिष्य था और उसकी प्रेयसी तथा पत्नी अलका भी उसी के उपयुक्त संगिनी थी। आंभीक का चित्र भी स्पष्ट है, देशद्रोही तथा देशभक्त दोनों रूप में। पर नंद, सिकंदर तथा सेल्यूकस के चित्र चित्रित नहीं किए गए हैं, उनके चित्रों का मानों विवरण मात्र दे दिया गया है।

स्त्री पात्रों में केवल तीन चित्र स्पष्ट उठ सके हैं—अलका, कल्याणी तथा मालविका के। दर्शक, नहीं पाठक, का हृदय तीनों आकर्षित करती हैं पर अंतिम दो नाटककार की निष्ठुरता की छाया से करुणा की मूर्ति बन जाती हैं। यह निष्ठुरता भी अकारण थी, इससे कुछ बना या बिगड़ा नहीं और न नाटक की रोचकता या रसात्मकता का उन्नयन हुआ। यदि कल्याणी का चंद्रगुप्त से विवाह करा दिया जाता, तो किसी प्रकार चाणक्य के ध्येय को हानि न पहुँचती वरन् सहायता मिलती या इस पात्र की कल्पना ही नहीं करनी थी। अस्तु, अन्य पात्र साधारण हैं, जिनके विवेचन का स्थानाभाव है।

कथोपकथन या भाषा के विषय में जैसा इनके अन्य नाटकों के विषय में लिखा जा चुका है वही इनके विषय में कहा जा सकता है। लंबे लंबे भाषण भावुकता में रँगे हुए क्लिष्ट भाषा में बराबर प्रयुक्त हुए हैं। गद्य में भी यथासाध्य तुकबंदी लाने

का प्रयास है। सावधानता तथा नियति-सुंदरी की क्रीड़ा चलती रही है। नाटक में वीर रस प्रधान है। शृंगार भी यत्र तत्र तथा कहीं कहीं अश्लीलता लिए हुए आया है।

मौर्य-साम्राज्य के अनंतर भारत में एक गुप्त-साम्राज्य ही ऐसा स्थापित हुआ था, जिससे प्रथम की तुलना की जा सकती है। प्रसादजी ने इसी काल की कुछ घटना लेकर स्कंदगुप्त विक्रमादित्य नाटक निर्माण किया है। यह चंद्रगुप्त द्वितीय के पौत्र तथा कुमारगुप्त के पुत्र थे। कुमारगुप्त को दो रानियाँ थीं और बड़ी से स्कंदगुप्त तथा छोटी से पुरगुप्त दो पुत्र हुए। इन्हीं दो को लेकर अनेक षड्यंत्र हुए और इसी काल में पुष्यमित्रों तथा हूणों के भारत पर प्रबल आक्रमण भी हुए। इन्हीं घटनाओं से इस नाटक का कथावस्तु निर्मित हुआ है। यह चंद्रगुप्त से आकार में तीन-चौथाई होते हुए भी अभिनय के लिए बड़ा ही कहा जाएगा। इसमें पाँच अंक हैं पर उसके विभेद दृश्य आदि में न दिए जाकर पटपरिवर्तन मात्र से किए गए हैं।

स्कंदगुप्त गुप्त-वंश के उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था से कुछ उदासीन रूप में मंच पर आते हैं, जो राजधानी से दूर उज्जयिनी में आक्रमणकारियों से युद्ध करने भेजे गए हैं। पुष्यमित्रों से युद्ध हो रहा है पर राजधानी से सहायता नहीं आती। कुमारगुप्त विलास में और पुरगुप्त की माता राजमाता बनने के षड्यंत्र में लिप्त हैं। कुमारगुप्त की मृत्यु होती है और कुछ लोग पुरगुप्त को सम्राट् स्वीकृत कर लेते हैं। इधर स्कंदगुप्त पुष्यमित्रों तथा शकों को परास्त कर चुके हैं। पुरगुप्त की माता

अनंतदेवी स्कंदगुप्त की माता को मारकर अपना मार्ग निष्कंटक करना चाहती है पर अवसर पर स्कंदगुप्त के पहुँच जाने से उसकी रक्षा होती है। स्कंदगुप्त अपनी माता को लेकर तथा पुरगुप्त और अनंतदेवी को चुपचाप कुसुमपुर में बैठी रहने का आदेश देकर उज्जयिनी लौट जाते हैं। वहीं स्कंदगुप्त के सम्राट् होने की घोषणा की जाती है और दोषी क्षमा किए जाते हैं। यहीं भिक्षु प्रपंचबुद्धि, जो अनंतदेवी का सम्मतिदाता है, आकर फिर से षड्यंत्र आरंभ करता है। मालव की राजकुमारी देव-सेना को वह बलि देने के लिए बुलवाता है पर ठीक अवसर पर स्कंदगुप्त पहुँचकर उसकी रक्षा करता है। शकमंडल पर इसी समय विजय प्राप्त होती है और सिंधु का म्लेच्छ राज्य ध्वंस हो जाता है। अनंतदेवी इन विजयों का समाचार सुनकर कुढ़ती है और हूणों से मिलकर स्कंदगुप्त के नाश का प्रबंध करती है। हूणों का भारी आक्रमण इस बार होता है। अनंतदेवी के षड्-यंत्र में लिप्त भटार्क के अधीन मगध सेना अवसर पर धोखा देती है और शत्रु के निकल जाने पर पीछा करनेवाले स्कंदगुप्त तथा उनकी सेना को बाँध तोड़कर बहा देती है। हूणों का कुसुम-पुर तक अधिकार हो जाता है। साम्राज्य के अनेक पुराने वीर स्कंदगुप्त को खोजते हैं और अंत में उनका पता भी मिल जाता है। अब पुनः सेना एकत्र कर हूणों से युद्ध होता है। कहरूर युद्ध में परास्त होकर हूण लौट जाते हैं। स्कंदगुप्त आजीवन कौमार व्रत ग्रहण कर पुरगुप्त को युवराज नियत करते हैं। इतनी ही मुख्य कथावस्तु है और खूब सुगठित हुई है।

गुप्तवंश के आदर्श वीरों में से एक स्कंदगुप्त का उनके उप-

युक्त चित्रण किया गया है। युद्ध में, क्षमा में, निस्वार्थ देश-सेवा में और अंततः साम्राज्य के लिए शारीरिक सुख तथा समृद्धि के त्याग मे यह आदर्श ही चित्रित हुए हैं। यही इस नाटक के प्रधान पात्र या नायक हैं। प्रतिनायक होने के योग्य एक भी अन्य पात्र नहीं है। नायिका की दृष्टि से भी देवसेना को योग्य पात्र मान सकते हैं क्योंकि उसकी भी उदारता, त्याग तथा नारीत्व अपनी विशेषता रखती है। स्कंदगुप्त पर उसकी एकनिष्ठा या प्रेम आरंभ से अंत तक रहा। देवसेना का त्याग और विजया का प्रतिशोध समान रूप से गूढ़ और अस्पष्ट हैं। दोनों के कारण रहस्य से आच्छादित हैं और स्यात् 'नियति-सुंदरी' के खेल मात्र हैं। विजया का चित्र व्यर्थ सा इस चित्रावली मे ला दिया गया है। नाटककार अपने स्त्री-पात्रों को 'वेदना-विदाई' देने में अति कुशल है। देवकी की उदारता, पति तथा पुत्र के प्रति स्नेह और साम्राज्य की रक्षा का लगन अनंत देवी की राज्यलिप्सा, वैमात्र्य द्वेष तथा साम्राज्य के प्रति षड्यंत्रों से घिरकर विशेष प्रकाशमान हो उठा है। रामा तथा कमला का भी देश प्रेम तथा स्वामिभक्ति अद्भुत है। पर्णदत्त, चक्रपालित, बधुवर्मा और भीमवर्मा साम्राज्य के देशप्रेमी दृढ़ स्तभ तथा उसके लिए मृत्यु को वरण करनेवाले वीर थे। अंतिम दो अपना राज्य भी देकर इस कार्य से पश्चात्पद न हुए थे। मातृगुप्त कालिदास कवि होते भी साम्राज्य के बहुत तथा अवसर पर काम आए थे। विदूषक मुद्गल भी कोरा पेटू ब्राह्मण नहीं चित्रित किया गया है, वह स्वामी का कार्य भी करता है। प्रसादजी ने अपने बाद के नाटकों मे उसकी उपस्थिति सार्थक कर दी है।

कथोपकथन की भाषा तथा विचार सर्वत्र दार्शनिकता और भावुकता से भरे हुए हैं। हर एक पात्र, छोटे या बड़े, नियति, नियमन आदि वादविवाद को लेकर बातचीत करते हैं और उनकी भाषा शिष्ट ही केवल नहीं रह जाती प्रत्युत् प्रकांड भाषा-विद्वानों की सी हो जाती है, जिसे समझना हर एक ऐरे गैरे के लिए कठिन है। सारे नाटक की संस्कृत-गर्भित भाषा के बीच संन्यासी गोविंदगुप्त द्वारा शैर कहलाना नियति का वैचित्र्य सा ज्ञात होता है। कहीं कहीं लंबे भाषण, जो गंभीर निबंधों के उपयुक्त होते, बीच में आ गए हैं। वीर रस प्रधान है पर करुण और शृंगार भी कहीं कहीं आ गए हैं।

स्वास्थ्य, सरलता तथा सौंदर्य के रहते हुए प्रेम के प्याले का 'एक घूँट' पीना-पिलाना ही आनंद है, पर कब? स्वच्छंद अर्थात् मुक्त रहने ही पर यह पूर्ण होता है या बंधन-युक्त होने पर। प्रसाद जी इसी को कथोपकथन के रूप में विवेचन कर अंतिम बात ही का निरूपण करते हैं। वनलता बंधन में पड़ चुकी है और वह समझ बैठी है कि रसाल उसे भूल गया है, वह उसके प्रति आकर्षित नहीं होता है और इसी कारण 'बंधन खोल' गीत का विश्लेषण करती है। आनंद स्वच्छंद प्रेम का संदेश लाता है प्रेम का नियमन नहीं चाहता है और दुःख को काल्पनिक बतलाता है। वनलता के हृदय को वैवाहिक अवस्था में भी प्यासा देखकर अपने संदेश को सार्थक मानता है। परिहास ही में कवि जी के करुण-गान को प्रकृति की ठेस लगती है और पारस्परिक प्रेम में कारुण्य को हटाना समीचीन कहते हैं। वैवाहिक बंधन से युक्त चंदुला हर अवस्था में आनंद पाने का उल्लेख

कर नियमित प्रेम की सफलता दिखलाता है। आनंद फिर इसके विरुद्ध कहता है कि एक 'वस्तु या व्यक्ति-विशेष से मोह करके' औरों को उस पर आकर्षित होते देखकर 'द्वेष छोड़ देने ही से काम चल जायगा।' अर्थात् 'किसी प्रिय वस्तु पर अधिक आकर्षित न होना' उचित है, साधारण मोह सभी की प्रिय वस्तु पर सबको रखना चाहिए। झाड़ूवाला आकर प्रकट सत्य की बातें कहता है और आपस के झगड़े भी समझने-समझाने में कितने सुखद होते हैं, यह भी कहकर बंधन का पक्ष समर्थन करता है। वनलता कहती है कि रसाल का यह कथन कि 'मानवता के नाते स्त्री को प्यार करते हैं' अक्षम्य तिरस्कार है। प्रेम की व्यथा प्रेम पाने के लिए है। इसी समय आनंद आकर वनलता से स्वच्छंद प्रेम की एक घूँट माँगता है और इसी प्रकार हर एक को पीते-पिलाते आगे बढ़ने की सम्मति देता है। वनलता फटकारती है कि वह केवल एक से प्रेम करती है, अपने चिर परिचित से, अन्य के प्रेम का उसके लिए कुछ भी मूल्य नहीं है। आनंद अपनी चिरपरिचित की खोज में चिंतित होता है कि प्रेमलता आती है। वह अपने कल्पित संदेश से सत्य का अंग अलग कर उसी के हाथ एक घूँट पीकर उच्छृंखल प्रेम को बाँधता है।

प्रसादजी की मधुर कल्पना ने बड़े ही सुंदर रूप में बंधन-युक्त प्रेम का दिग्दर्शन कराया है। यह रचना नाटक नहीं है, केवल कथोपकथन मात्र है। वस्तु-विन्यास नहीं है और न है चरित्र-चित्रण। भाषा अधिक क्लिष्ट नहीं है और रचेता का जिस ओर संकेत है उसे पाठक को समझ लेना सुगम है। किसी वाद के अंतर्गत इस रचना को लाने का प्रयास करना अनर्गल है।

कथोपकथन की प्रधानता के कारण ही इसका इस ग्रंथ में विवरण दिया गया है और यह नाटक कहलाया है।

मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त के एक अन्य नाटक देवी-चंद्रगुप्तम् के कुछ उद्धरण कई संग्रह ग्रंथादि मे मिले हैं, जिनसे सम्राट् समुद्रगुप्त के बड़े पुत्र रामगुप्त का पता चला है, जो उनकी मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठे थे। इन्हें राज्य से हटाकर चंद्रगुप्त द्वितीय ने गद्दी पर अधिकार किया था और 'ध्रुवस्वामिनी' से विवाह किया था। यह ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की विवाहिता हो चुकी थी या समुद्रगुप्त इसे उपायन मे पाकर अपने उत्तराधिकारी के लिए अविवाहित छोड़ गए थे. इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर प्रसादजी उस काल में विधवा-विवाह होता था, ऐसा सिद्ध करने के लिए प्रथम ही को मानकर चले हैं। नाटक का कथावस्तु इस प्रकार रखा गया है।

ध्रुवस्वामिनी से एक दूती चंद्रगुप्त की ओर से आई हुई बनकर उसके प्रति चंद्रगुप्त का प्रेम बतलाती है और उसके प्रत्युत्तरों को छिपा हुआ रामगुप्त सुनकर उसका हृदस्थ भाव समझना चाहता है। इसी समय उसका मंत्री शिखरस्वामी आकर शकों द्वारा शिविर के घिर जाने का समाचार देता है और शकराज की संधि की यह शर्त भी सुनाता है कि रामगुप्त अपनी महादेवी ध्रुवस्वामिनी तथा अन्य सामन्तों की स्त्रियों को दे दें नहीं तो वे सब युद्ध मे मारे जायँगे। रामगुप्त प्राण बचाने को यह स्वीकार करता है और ध्रुवदेवी के रोने पर कुछ नहीं ध्यान देता। वह आत्महत्या करने जाती है पर चंद्रगुप्त आकर उसे रोकता है। वह स्वयं ध्रुवदेवी का वेश धारण कर अन्य स्त्री वेशधारी सामंत-

कुमारों के साथ ध्रुवदेवी को लेकर शकराज के शिविर में जाता है और वहाँ उसे मारकर उसके दुर्ग पर अधिकार कर लेता है। रामगुप्त यह वृत्त सुनकर दुर्ग में जाता है पर ध्रुवदेवी उसे फटकार देती है। राजपरिषद् बुलाया जाता है और उसमें निर्णय होता है कि रामगुप्त वास्तव में राजा के योग्य नहीं है तथा उसका ध्रुवदेवी के साथ परिणय धर्म संगत नहीं है अतः विच्छिन्न है। रामगुप्त धोखे से चंद्रगुप्त को मारना चाहता है पर एक सामंत-कुमार द्वारा स्वयं मारा जाता है। चंद्रगुप्त राजा घोषित होता है।

यह नाटक अत्यंत शीघ्रता में लिखा गया ज्ञात होता है और छोटा भी है। भाषा मे दार्शनिकता तथा क्लिष्टता लाने का अवसर भी नहीं मिला इसलिए यह दुर्बोध भी न हो सका। वस्तु में व्यापार भी बहुत कम है अतः उसके संगठन में भी अधिक प्रयास तथा कौशल की आवश्यकता नहीं पड़ी है। इसके पात्रों में नायक, प्रतिनायक तथा नायिका तीनों हैं, जो क्रमशः चंद्रगुप्त, शकराज तथा ध्रुवस्वामिनी हैं। इनके चित्रण स्थान की कमी होते हुए भी अच्छे हुए हैं, अधिक रंग भरने की गुंजाइश ही न थी। रामगुप्त शकराज को ध्रुवस्वामिनी देने के सिवा हिजड़ों की नाल पर प्रसन्न होने के कारण ही क्लीव निर्धारित किया गया है, जो कुछ अनुचित-सा ज्ञात होता है। ध्रुवस्वामिनी को शकराज को देते समय रामगुप्त के हृदय में उसके प्रति अविश्वास उत्पन्न करा दिया गया था और अपने पर प्रेम न रखनेवाली तथा अविश्वास की पात्री ध्रुवस्वामिनी को दे देना क्लीवता को आच्छन्न कर देता है। वह चंद्रगुप्त पर प्रेम रखनेवाली को शत्रु समझकर चाहता है कि 'एक न जाने से सब शत्रु परास्त हों।' रामगुप्त की क्लीवता नहीं,

यह राजनीतिज्ञता प्रकट करता है। विलासखानी स्वार्थी मंत्री के रूप में आता है, जो समय देखकर पक्ष बदलने में पटु है और सम्मति देने में उचित-अनुचित या वंश-मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इसमें वीर-रस शृंगार से मिला चलता है। नाटक में पात्र सूची भी नहीं दी गई है, स्यात् अनावश्यक समझकर। यही प्रसादजी का अंतिम नाटक है।

प्रसादजी प्रधानतः तथा प्रकृत्या कवि थे और वह भी भावुक कवि थे। इसके अनंतर वह क्रमशः नाटककार, आख्यायिका-लेखक तथा औपन्यासिक हुए। इन्हीं नाटकों के संबंध में इतिहास की भी विवेचना इन्होंने की है पर वह इतिहासकार नहीं हो सके हैं। इसी कारण इनकी सभी रचनाओं में भावुकतामय कवि-कौशल की छाप मिलती रहती है। प्रसादजी की हिंदी-साहित्य के अभावों की ओर दृष्टि आरंभ ही से थी और अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा के कारण इन्होंने उसके कई अंगों की पुष्टि के लिए अपनी महान लेखनी को परिचालित किया था। इनके नाटकों की कमी की ओर [illegible]

स्पष्ट होती चलती थी। अवस्था के साथ-साथ अध्ययन तथा मनन के बढ़ने से उनकी विचारधारा अधिक पुष्ट होती गई और पूर्ववर्तियों के अनुकरण पर निर्मित इनकी आरंभ की कृतियाँ और बाद के एकदम उनकी निजी शैली तथा विचार संयुक्त रचनाएँ, उक्त कथन का समर्थन करती हैं। अब उनकी शैली के क्रमिक विकास की ओर दृष्टि दीजिए।

भारतेंदुजी के नाटकों में प्राचीनता तथा नवीनता दोनों का सामंजस्य पूर्ण-रूपेण वर्तमान है और ये नाटक अवश्य ही प्रसाद-जी के अध्ययन में आ चुके थे। प्रसादजी ने उक्त कार्य को आगे बढ़ाया और सामयिक परिस्थिति के अनुसार नवीनता का समावेश अधिक करते चले गए। निजी दार्शनिकता तथा भावगहनता के कारण नाटकों का दुरूह हो जाना दूसरी बात है, जिस प्रकार भारतेंदुजी मे सजीवता, चपलता, स्वच्छंदता आदि का आधिक्य उनकी विशेषता थी। प्रसादजी मे देश-प्रेम या मातृ-भाषा-प्रेम की कमी न थी पर भारतेंदुजी-सी उनमे उनके प्रति एकनिष्ठा तथा तन्मयता न थी। प्रसादजी ने नाटक-लेखन मे स्वदेश के प्राचीन इतिहास का उद्धार ही ध्येय बना रखा था और देश-प्रेम ही के कारण इस कार्य मे यह अंत तक दत्तचित्त रहे।

प्रसादजी का नाटक-रचनाकाल सं० १९६७ से आरंभ होकर सं० १९९० तक रहा। प्रथम नाटक सज्जन पर प्राचीनता की पूरी छाप है। छोटा नाटक होते भी इसमें नांदी और प्रस्तावना दी गई है। नाटक के प्रस्तावित हो जाने पर जब सूत्रधार नटी से गाने को कहता है तब वह कहती है कि 'अब तो महाराज दुर्योधन के सभा ही मे गाना आरम्भ हुआ है।' सूत्रधार यह सुनकर

कहता है कि 'क्या अभिनय आरंभ हुआ? तो चलो जल्दी चलें
इनके जाते ही पट-परिवर्तन होने पर अभिनय आरंभ होता
परंतु प्रस्तावना के किसी अंश को लेकर कोई पात्र नहीं आ
इस कारण संस्कृत के प्रस्तावना के किसी भेद के अंतर्गत यह
आती। हाँ, स्पष्ट अभिनयारंभ की सूचना अवश्य है। गद्य
बोली में और पद्य व्रजभाषा में है। विदूषक तथा भरत-वाक्य
हैं और कथोपकथन में प्राचीन शैली ही बर्ती गई है। अ
बीच-बीच में कविता देकर अपनी बातों की पात्रगण पुष्टि
गए हैं। जैसे—

चित्रसेन का सेनापति कहता है कि 'मैं स्वामी की आज्ञानु
शिष्टता के साथ कह रहा हूँ, नहीं तो दूसरी प्रकार से
का आदर किया जायगा। क्योंकि—

प्रथम राखि महामति मान को।
सुधि दतावहिं नीति-विधान को॥
यदि न मानहिं नुरख टेक सों।
तब करें हठि दंड अनेक सों॥'

इसके अनंतर हरिश्चन्द्र तथा प्राणचन्द्र ने नांदी या प्र-
वना नहीं है पर राजचरण में पहिले नांदी आदि दी गई थी
[illegible] में हटा दी गई है। तात्पर्य यह कि प्रस्ता-
प्रस्तावना आदि के पक्षपाती नहीं थे और स्यात् वे संस्कृत
[illegible] यदि [illegible] दूसरा [illegible] तो [illegible]
वाक्य [illegible] कुछ नाटकों के [illegible] में इन्होंने [illegible]
या [illegible] पद रक्खा है पर [illegible] यह [illegible]
विदूषक [illegible] होने से [illegible]

आश्रयदाता से सहानुभूति केवल उनके विरह-काल में होती थी और वे विट का भी काम करते थे पर प्रसादजी ने पहिले वैसा ही रखते हुए बाद को उनकी इस सहानुभूति का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है और विट के पद से उन्हें प्रायः च्युत कर दिया है। विशाख का महापिंगल पहिले ही प्रकार का है पर मुद्गल दूसरी कोटि में आ जाता है।

भारतेंदुजी भी प्रस्तावना आदि के हटाने को उचित समझते थे और ऐसा किया भी पर आरंभ मे किसी न किसी प्रकार का मंगलगान रखते थे । जैसे 'सती-प्रताप' के प्रथम दृश्य के गान मंगलमय होते हुए नाटक का आभास देकर प्रस्तावना का कार्य भी पूरा कर देते हैं। प्रसादजी ने इतना भी उचित न समझा। कुछ लोग कहते हैं कि इनके नाटकों के प्रथम दृश्य परिचायक मात्र होकर प्रस्तावना का कार्य पूरा कर देते हैं पर यह ठीक नहीं है। प्राचीनकाल मे वर्तमानकाल की इश्तिहारबाजी के अभाव में अभिनय आरंभ करने के पहिले मंगल-नांदी आदि कार्य निपटा कर सूत्रधार रंगमंच पर आता था और नाटककार तथा नाटक का परिचय दर्शकों को दे जाता था। यही प्रस्तावना थी और इससे तथा अभिनय से संबध स्थापित करने के लिए, जिसमे वह विशृंखल न जान पड़े, इसके अनेक भेद बन गए। नाटक, उपन्यास आदि के प्रथम दृश्य, परिच्छेद आदि 'कथा आरंभित होत है' के समान परिचायक होंगे ही, प्राचीन तथा नवीन दोनों ही शैलियो मे। प्रस्तावना मे केवल नाटक की कथा का आभास मात्र होता था और है, कथा का परिचय नहीं। अतः यही कहना समीचीन है कि वर्तमानकाल मे प्रस्तावना निरर्थक है क्योंकि

विज्ञापनों से तो अब केवल नाटककार तथा नाटक का नाम मात्र ही नहीं प्रत्युत् अभिनेता तथा अभिनेत्रियों के नाम, चित्र और कथावस्तु की संक्षिप्त रूपरेखा सभी कुछ दर्शकों को पहिले से ज्ञात हो जाती है। फिर भी सवाक्पटों में सूत्रधार, गायक, पात्र तथा अभिनेता आदि सभी के नाम तथा चित्र आदि दिखलाकर तब खेल आरंभ किया जाता है।

प्रसादजी ने नाटकों के अंक-विभाग को अंत तक माना है पर दृश्यों के विभाग तथा नामकरण को आगे चलकर चंद्रगुप्त, स्कंद-गुप्त आदि में नहीं माना है। दृश्य शब्द न देकर केवल संख्या दी है, उनका कोई नामकरण भी नहीं किया है। एकघूँट, [illegible] आदि में दृश्य जो केवल पर्दा-बदली [illegible] मिलाने के लिए आते हैं, नहीं रखे गए हैं, पर ऐसे [illegible] हैं अवश्य। उनका अलग नामकरण नहीं किया गया है।

बहुत खटकेगा। अब समय रोमांचकारी घटनाओं को देखने का आदी हो गया है। प्रसादजी ने स्यात् यही विचार कर आरंभ ही से वर्ज्य अंशों को विशेष रूप से अपनाया है। हत्या, युद्ध, हवनकुंड में नागों को जलाना आदि का उदारता के साथ इन्होंने प्रयोग किया है।

प्रसादजी के नाटकों के कथोपकथन में भी दो भेद हैं। कथोपकथन की भाषा की दुरूहता या सरलता पर विचार न करते हुए भी यह देखा जाता है। नाटकों मे अभिनय की ओर विशेष ध्यान रखने पर उसके व्यापार की गति में भाषा की दुरूहता रूपी रोड़े न अटकाना ही श्रेयस्कर है। आरंभ के चार पाँच नाटकों के कथोपकथन में सरलता तथा चपलता दोनों हैं, अपनी बातों को पुष्ट करने के लिए पात्रगण कविता का भी उपयोग करते हैं, गद्य में भी शब्द-क्रीड़ा है पर ये सब क्रमशः कम होते जाते हैं। विशाख तक ये सब अवश्य ही मिलते हैं पर अजातशत्रु में ये गंभीरता तथा भावुकता मे प्रायः परिवर्तित हो जाते हैं। अभिनय की उपयुक्तता की ओर से ध्यान हटने लगता है और इनके नाटक क्रमशः गंभीर मनन योग्य काव्य हो उठते हैं। इसी कारण इन्हीं के उपयुक्त कथोपकथन भी हो उठे हैं, जिन्हें समझने के लिए कभी-कभी विद्वान् गुरु की आवश्यकता पडती है। भाषा की कठिनता के सिवा कहीं-कहीं कथोपकथन का भाषण हो जाना भी अत्यंत अस्वाभाविक है। ये पात्र जब रंगमंच से अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन बड़े जोर-शोर से करने लगते हैं तब सब नाटकीय-व्यापार स्थगित से हो जाते हैं और रंगमंच व्याख्यान-मंच हो उठता है। सभी, पात्र तथा

नागयज्ञ का महालोभी काश्यप, अजातशत्रु का वसंतक ऐसे ही पात्र हैं। यह सब होते भी परिहास की मात्रा बहुत कम है और ऐसा ही होना भी था। खींचतान कर कुछ परिहास खोज निकालना व्यर्थ का प्रयास है।

प्रसादजी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान थे और उसपर उनका पूरा अधिकार था। वह दुर्बोध तथा क्लिष्ट है, आलंकारिता से लदी है, और भावुकता तथा 'वादों' से ग्रस्त है पर यह सब उनकी निजी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम उनके ध्येय की ओर ध्यान देना चाहिए। वह प्राचीन, अति प्राचीन, इतिहास का हम लोगों को दिग्दर्शन कराने का बीड़ा उठा चुके थे, जब प्राकृत बोलियों का बोलबाला था। तत्कालीन नामकरण की प्रथानुसार इन्होंने अपने पात्रों के नाम रखे हैं और उस समय के पद, पदवियाँ, संबोधन आदि के शब्दों को खोज खोजकर संगृहीत किए हैं, जो हम लोगों के अत्यंत अपरिचित होने के कारण स्वतः कटु तथा दुरूह हो उठे हैं। ऐसे प्राचीन नाम तथा पदवियों से विभूषित लोगों की बोलचाल में भी प्राचीनता लाने के लिए संस्कृत-गर्भित भाषा का होना अनिवार्य सा हो उठा है। प्रसादजी भावुक कवि थे और ऐसे लोगों की बातचीत में भी स्वभावतः अलंकारों का समावेश हो गया है। [illegible]

रखते हुए ही उनकी भाषा पर आक्षेप करना उचित है। जो कुछ हो, यदि वह अपने नाटकों में उक्त प्रकार से भाराक्रांत भाषा को अधिक चपल, सरल तथा सजीव बना सकते तो वह अवश्य ही अधिक सफल नाटककार हो जाते।

प्रसादजी आरंभ ही से साहित्य-सेवी थे और क्लिष्ट भाषा ही का आरंभ से अभ्यास किया था। यह गद्य तथा पद्य दोनों में काव्य लिखते थे अतः नाटकों के दोनों ही अंशों में काव्य-कौशल विद्यमान है। आरंभिक रचना विशाख से एक पद तथा गद्यांश लेकर देखिए—

"मधुमत्त मिलिंद माधुरी
मधु रात जगकर दिखा चुके।
अरविंद प्रभात में भला
फिर देता मकरंद क्यों उन्हें?"

"संध्या के मधु ने रात भर भ्रमरों को आनंद-जागरण में रखा, सवेरे ही फिर मिला, दिन भर फिर मस्त। हृदय-कमल जब विकसित हो जाता है तब चेतना बारबार आनंद मकरंद पान किया करती है, जिसमें नशा न टूटने पावे।" पद्य तथा गद्य दोनों में कवि वर्तमान हैं और भाषा क्लिष्ट न होते भी साहित्यिक है, तत्सम शब्द ही लाए गए हैं। उर्दू का एक शब्द नशा भी आ गया है। अंतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी में लिखते हैं 'इस कलुषित वातावरण से कहीं दूर, विस्मृति के सपने की छिप [illegible] पर मता' तुम्हें विधाता ने क्या बनाया।

'यह कसक अरे आँसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे मेरा अस्तित्व बता, रह जा।

गद्य-पद्य दोनों में कवि की विचार-शृंखला एक ही है। प्रसाद-जी दोनों ही के लेखन में कवि बने रहते हैं।

प्रसादजी की दार्शनिकता तथा भावुकता का ऊपर उल्लेख हो चुका है और साथ ही उनके कुछ निजी सिद्धांत भी थे, जिन सबके मेल से इनकी विचारधारा प्रवाहित होती रही है। प्रसादजी के हृदय में देशप्रेम भरा हुआ था, पर वह कर्मशील न होकर मननशील ही अधिक थे इसलिए देश-हितकर कार्यों में न हाथ बँटा सकने पर अपनी साहित्यिक रचनाओं ही से देश का जो उपकार कर सकते थे वही उन्होंने यथाशक्ति पूरी तौर से किया। नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों में देशभक्ति तथा देश के लिए अपने को उत्सर्ग करने की भावना विद्यमान है। स्कंदगुप्त तो देशभक्ति का सरल पवित्र मूर्त स्वरूप ही है, उसने अपना सब कुछ इसीके लिए उत्सर्ग कर दिया। चाणक्य, चंद्रगुप्त देश ही के लिए मारे मारे फिरे। प्रेम का उन्होंने अत्यंत निर्मल स्वरूप ही ग्रहण किया है पर उसका वैसा ही प्रतिदान नहीं दिला सके हैं क्योंकि वह 'नियति-सुंदरी' के पाश में आबद्ध थे। विजया तथा उसीके समान कुत्सित वासनामय प्रेम को सदा वह दंडित करते रहे हैं। कार्नेलिया के प्रेम का प्रतिदान उसे केवल देश-प्रेम के कारण ही मिल सका है, क्योंकि वैसा करने से भारत तथा एक बाह्य महान शक्ति के संघर्ष की संभावना कुछ दिन के लिए टल जाती। नहीं तो प्रसादजी का वेदनामय हृदय शुद्ध प्रेम में भी वेदना ही विदाई देने में पटु रहा है। वह अत्यंत उच्च आदर्श स्वरूप आगे बढ़ते थे चाहे उसकी वेदी पर कितने ही अनुपम पात्र-पात्रियों का बलिदान हो जाय। इनका मानव-प्रेम आदर्श

स्कंदगुप्त साम्राज्य की रक्षा कर उसे पुरगुप्त को दे सका था पर क्या वह सुखी था, नहीं वह 'हतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह!' था। अजातशत्रु सुखांत कर दिया गया है पर बिंबसार इस सुख के भार को नहीं सह सका है। ये इसलिए अवश्य सुखांत कहे जा सकते हैं कि ये पात्र वेदना से विरक्ति पूर्ण शांति तथा नियति के आगे अपनी अवशता को समझकर अविचलित रहकर उसको प्रकट नहीं करते या करना चाहते।

प्रसादजी ने अदृष्टवाद तथा संसार से विरक्ति का प्रचार करने के लिए, कम से कम अपने नाट्य-पात्रों के लिए, वेदव्यास, गौतम, जरत्कारु आदि से महात्माओं की अपने नाटकों में अवतारणा की है, जिससे वे निराशा तथा सांसारिक कष्टों से पीड़ित लोगों को उसी अवस्था मे शांति लाभ करने का उपदेश देते रहें और उनके उपदेशों का तत्काल इच्छित प्रभाव पड़े चाहे वे उपदेश कितने भी शिथिल हों। ये उपदेश भी जराजीर्ण सांसारिक सुख से तृप्त, नहीं प्रत्युत् भोगने के अयोग्य,हो गए वृद्धों के उपदेश से हैं और नियति, अदृष्ट, प्रकृति के अनुचर होने आदि की बारबार दुहाई देते हैं। इसपर भी इनका संपर्क, क्षण मात्र ही के लिए सही, आश्चर्यजनक फल दे देता है और बड़े-बड़े दुष्ट सहज ही एकदम बदल जाते हैं। कितनों की इस प्रकार की शुद्धि नहीं भी कराई गई है पर तब वे नियति के सूत्र-धार भगवान के पास भेज दिए गए हैं। इस प्रकार के अनेक वाद-विवादों का समावेश जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक आदि सभी सांसारिक विषयों को लेकर यत्र तत्र किए गए हैं, जो जटिलता ही के पोषक हुए हैं।

यद्यपि प्रसादजी ने प्राचीन इतिहास को लेकर ही नाटक लिखे हैं पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह एकदम वर्तमान को भूल सके हैं। प्रत्युत् यह कह सकते हैं कि वर्तमान को देखकर ही वह प्राचीन की ओर गए हैं। उन्होंने प्राचीन इतिहास को लेकर हमें दिखलाना है कि हम भी किसी समय कुछ थे। इसी भारत रूपी दृढ़ राष्ट्र-दुर्ग पर टकराकर तत्कालीन ज्ञात संसार के विजेताओं की प्रबल वाहिनियाँ छिन्न-भिन्न होकर उलटी लौट गई थीं। यही देश था, जहाँ वेदव्यास, जरत्कारु, गौतम आदि से महात्मा, कालिदास से अमर कवि, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त से यशस्वी वीर उत्पन्न हुए थे। साहित्य के महारथी आलोचकगण जब वर्तमान लेखकों के विषय में कुछ लिखना बला मोल लेना समझते हैं तब वर्तमान राष्ट्र के विषय में कुछ लिखना लोग क्या समझते होंगे, यह कल्पनीय है। इनके सभी नाटकों में देश-प्रेम ओत-प्रोत है और वे अपने समय ही के हैं। केवल प्राचीन समय के पात्रों के मुख से वे उक्तियाँ रख दी गई हैं। स्कंदगुप्त में बलिदान को लेकर हिंदुओं तथा बौद्धों में जो झगड़ा दिखलाया गया है वह आजकल के [illegible] के झगड़े के समान ही है।

स्कंदगुप्त साम्राज्य की रक्षा कर उसे पुरगुप्त को दे सका था पर क्या वह सुखी था, नहीं वह 'हतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह !' था। अजातशत्रु सुखांत कर दिया गया है पर बिंबसार इस सुख के भार को नहीं सह सका है। ये इसलिए अवश्य सुखांत कहे जा सकते हैं कि ये पात्र वेदना से विरक्ति पूर्ण शांति तथा नियति के आगे अपनी अवशता को समझकर अविचलित रहकर उसको प्रकट नहीं करते या करना चाहते।

प्रसादजी ने अदृष्टवाद तथा संसार से विरक्ति का प्रचार करने के लिए, कम से कम अपने नाट्य-पात्रों के लिए, वेदव्यास, गौतम, जरत्कारु आदि से महात्माओं की अपने नाटकों में अवतारणा की है, जिससे वे निराशा तथा सांसारिक कष्टों से पीड़ित लोगों को उसी अवस्था मे शांति लाभ करने का उपदेश देते रहें और उनके उपदेशों का तत्काल इच्छित प्रभाव पड़े चाहे वे उपदेश कितने भी शिथिल हों। ये उपदेश भी जराजीर्ण सांसारिक सुख से तृप्त, नहीं प्रत्युत् भोगने के अयोग्य,हो गए वृद्धों के उपदेश से है और नियति, अदृष्ट, प्रकृति के अनुचर होने आदि की बारबार दुहाई देते है। इसपर भी इनका संपर्क, क्षण मात्र ही के लिए सही, आश्चर्यजनक फल दे देता है और बड़े-बड़े दुष्ट सहज ही एकदम बदल जाते हैं। कितनों की इस प्रकार की शुद्धि नहीं भी कराई गई है पर तब वे नियति के सूत्र-धार भगवान के पास भेज दिए गए है। इस प्रकार के अनेक वाद-विवादों का समावेश जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक आदि सभी सांसारिक विषयो को लेकर यत्र तत्र किए गए हैं, जो जटिलता ही के पोषक हुए है।

सप्तम प्रकरण

वर्तमान काल के अन्य नाटककार

देवीप्रसाद पूर्ण

राय देवीप्रसाद पूर्ण बी० ए० एल-एल० बी० का जन्म सं० १९२५ में हुआ था। आप कानपुर के निवासी थे और आपका देहांत सं० १९७१ में हो गया। आप ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों ही के उच्च कोटि के कवियों में से थे। आपने चंद्रकला-भानुकुमार नामक एक विशद नाटक लिखा है, जिसमें आई हुई सभी कविताएँ ब्रजभाषा ही की हैं। यह नाटक अपने बड़प्पन के कारण अनभिनेय हो गया है। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण भी समुचित नहीं हो पाया है। पूर्णजी ने भी लिखा है कि 'मैंने तो इसे साहित्य की दृष्टि से लिखा है।' भाषा पर पूर्णजी का पूर्ण अधिकार था और कल्पना-शक्ति, भावुकता तथा अनुभूति सभी के होने से इनकी कविताएँ खूब सरस हुई हैं।

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी वर्तमानकाल के एक प्रमुख कवि हैं और अनेक महाकाव्य खंडकाव्य आदि का प्रणयन कर हिंदी-साहित्य-भांडार की पूर्ति की है और कर रहे हैं। आपने चंद्रहास नामक नाटक एक पौराणिक आख्यान लेकर लिखा है, जो प्रथम बार सं० १९७३ में प्रकाशित हुआ था। इसमें पांच अंक हैं और प्रत्येक में चार चार दृश्य हैं।

प्राचीन शैली ही पर यह नाटक निर्मित हुआ है पर पद्यों में समयानुसार अवश्य कमी कर दी गई हैं। भाषा सर्वत्र भाव के अनुकूल है। कथोपकथन में लंबे भाषण नहीं आने पाए हैं और न भावुकता भरकर उन्हें दुरूह करने ही का प्रयास है। काम की बातें सरस भाषा में सरलता से कही गई हैं। नाटक अच्छा है। गुप्तजी ने तिलोत्तमा आदि नाटकों का बंगला से अनुवाद भी किया है।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

हास्यरसाचार्य पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी हिंदी के पुराने साहित्यसेवी हैं पर विशेषतः उन्होंने विनोदपूर्ण लेख लिखकर ही संतोष किया है, जो 'स्थायी विषयों पर लिखे हुए निबंध नहीं' हैं। इन्होंने सं० १९८० वि० में मधुर-मिलन नामक एक नाटक प्रकाशित कराया था, जो सं० १९७७ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के कलकत्ता-अधिवेशन के अवसर पर खेला गया था। आरंभ में प्रस्तावना का समावेश है। यह स्वयंसेवकों की उपादेयता दिखलाने के लिए लिखा गया है। वृद्ध का बालिका से और बच्चे का युवती से होते हुए विवाहों को इनके द्वारा रोककर योग्य वरों से पाणिग्रहण कराया गया है। दुष्टों द्वारा हरण की गई युवतियों की रक्षा कराई गई है। इसमें अंग्रेजी अक्षर तथा शब्दों के उच्चारण की बालकों द्वारा हँसी उड़ाई गई है और कवि-सम्मेलन का दृश्य दिखलाकर कवियों का ओछापन प्रदर्शित किया गया है। समाज-सुधारक बने हुए दुष्टों की लीला भी है। हास्य का पुट है पर बहुत हल्का। नाटक साधारणतः अच्छा है। इसके अनंतर प्रायः दस वर्ष बाद चतुर्वेदीजी ने तुलसीदास नाटक लिखा है।

इसमें गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त के विषय में जो कुछ ज्ञात हुआ है, उन सबको लेकर यह रूपक निर्मित हुआ है। यह अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें सब पद गोस्वामीजी के ही रखे गए हैं। भाषा-भाव सभी विचार से नाटक अच्छा ही बना है।

मिश्रबन्धु

लखनऊ के अंतर्गत इटौंजा निवासी पं० बालदत्त के पुत्र रावराजा पं० श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० का सं० १९४२ में और रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० का सं० १९३५ में जन्म हुआ था। दोनों ही सरकारी उच्च पदों पर रह चुके हैं और प्रथम अब ओड़छा राज्य के प्रधान अमात्य हैं। इन लोगों का सबसे विशद ग्रंथ मिश्रबंधु-विनोद है। हिंदी नवरत्न, जापान का इतिहास, भारतवर्ष का इतिहास आदि बहुत से ग्रंथ आप लोगों ने लिखे हैं और अब भी मातृभाषा की सेवा में लगे रहते हैं। प्रथम सिरमौर तथा द्वितीय शशिभाल उपनाम से कविता करते हैं। आप लोगों ने नेत्रोन्मीलन नाटक लिखा है, जिसमें अदालती मुकदमेबाजी की हानियाँ अच्छी प्रकार दिखलाई गई हैं। यह प्रहसन [illegible] सं० १९६७ में प्रकाशित हुआ था। भाषा [illegible] अदालती

पं० सत्यनारायणजी कविरत्न ब्रजवासी थे और इन्होंने अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा प्राप्त की थी। संस्कृत के यह अच्छे ज्ञाता थे। ब्रज तथा ब्रजेश के अनन्य भक्त थे। ब्रजभाषा में इन्होंने बहुत से सरस पद बनाए हैं तथा स्फुट कविताएँ की हैं। नंददासजी की प्रथा पर भ्रमरगीत भी बनाया है। इन्होंने भवभूति के दो प्रसिद्ध नाटक उत्तररामचरित तथा मालती-माधव का हिंदी में अनुवाद किया है, जो अत्यंत सरस हुए हैं और मूल के भावों की यथालाभ्य रक्षा की गई है। श्लोकों के अनुवाद ब्रजभाषा में अनेक छंदों में किए गए हैं। कहीं-कहीं छोकर, सिदौसी आदि से काव्य में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग मिलता है, और कहीं-कहीं कुछ दुरूहता भी आ गई है, नहीं तो सर्वत्र अनुवाद अत्यंत सरल और हृदयग्राही हुआ है। कविरत्नजी अधिक अवस्था नहीं पा सके, नहीं तो हिंदी साहित्य को ऐसे और भी अनुवाद-रत्न मिलते। उत्तररामचरित सं० १९७० में अनूदित हुआ था। इनका जन्म सं० १९४१ में हुआ था और मृत्यु पैंतीस वर्ष ही की अवस्था में सं० १९७५ में हो गई।

सत्यनारायण

इनका नाम धनपतराय था और इनका जन्म सं० १९३७ में काशी के एक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम मुं० अजायबलाल था। आरंभ में फारसी का अध्ययन कर यह स्कूल पहुँचे और क्रमशः बी० ए० तक की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते चले गए। कॉलेज की दोनों परीक्षाएँ प्राइवेट छात्र के रूप में दी थीं। इनका साहित्यिक जीवन सं० १९५८ से आरंभ होता है, जब इन्होंने 'जमाना' में कई

प्रेमचंद

प्रधान शत्रु मानने लगा। उसने इन्हें मारने का षड्यंत्र किया जिससे यह मक्का से मदीने आए और वहाँ से कूफा की ओर उक्त स्थान के निवासियों के निमंत्रण पर गए। कर्बला के मैदान में यजीद की सेना ने इन्हें घेर लिया तथा कूफा-निवासियों ने भी धोखा दिया, जिससे यह अपने साथियों के साथ कई दिनों तक युद्ध कर मारे गए।

उक्त घटना को प्रेमचंदजी ने नाटक रूप दिया है। यह प्रायः ढाई सौ पृष्ठों का पोथा हो गया है, जो अभिनय के लिए बहुत बड़ा है। पात्र भी अधिक हैं और रंगमंच पर इतनी मारकाट, लड़ाई भी अनभिनेय है। यह वास्तव में दृश्य न होकर पठनीय नाटक मात्र रह गया है और स्यात् उपन्यास रूप में यह अधिक रोचक तथा मनोरंजक होता। कथोपकथन में तो फारसी अरबी के शब्द भरे ही हैं, क्योंकि पात्रगण अधिकतर मुसलमान ही हैं पर 'मुसलिम से बगलगीर होकर' ऐसे स्थलों पर भी आपने हिंदी शब्द लिखना अनुचित समझा। मदद के स्थान पर इमदाद स्यात् आपने हिंदी के पाठकों के लिए सुगम समझा है। योगी तथा साहसराय का नाटक में लाना मुंशीजी के योग्य ही था। इन्हीं लोगों से कुछ हिंदी कहलाई गई है और ये इनकी निजी कल्पनाएँ हैं। ऐतिहासिक घटना में इनका कहीं जिक्र भी नहीं है और न इनके समावेश से नाटक कुछ उन्नत हो सका है। यह कल्पना किसी ध्येय से की गई ज्ञात होती है, पर है निरर्थक।

चरित्र-चित्रण के संबंध में इतना कहा जा सकता है कि लेखक इसमें अधिक सफल हुआ है पर पात्र इतने हैं कि दो तीन को छोड़कर अन्य पर विशेष प्रयास करने का अवसर ही न था।

वीर तथा करुण रस ही प्रधान हैं और वहब तथा नसीमा के कारण कुछ शृंगार भी आ गया है। प्रथम दो का भी ऐसी घटना के उपयुक्त परिपाक नहीं हो पाया है। यह सब व्यापार-शृंखला के आधिक्य के कारण ही हुआ है। तात्पर्य यह कि यह नाटक कुशल तथा प्रसिद्ध उपन्यासकार के योग्य नहीं हो सका है। हमें इनसे इससे कहीं अधिक उच्चकोटि के नाटक की आशा थी।

'सग्राम' एक सामाजिक नाटक है, जो सं० १९७९ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। यह २६३ पृष्ठों में समाप्त हुआ है और पाँच अंकों में विभक्त है। ७+९+८+७+६=३७ दृश्य हैं। कथावस्तु इस प्रकार है—हलधर किसान नायक तथा उसकी नव-विवाहिता पत्नी राजेश्वरी नायिका है। गाँव के योग्य उदार जमींदार सबलसिंह उसे देखता है, उसके घर निमंत्रित हो भोजन करता है और उससे प्रेम करने लगता है। हलधर गहने बनवाने के लिए सबलसिंह के यहाँ से ऋण लेता है और दो सौ के स्थान पर उसे एक सौ उंसठ ही मिलता है। सबलसिंह राजेश्वरी को देखने के लिए मैजिक लैंटर्न का तमाशा दिखलाने के बहाने गाँव-वालों को निमन्त्रित करता है, जिसमें वह भी आती है। सबलसिंह इसके बाद उसपर अपना शुद्ध प्रेम प्रकट करता है। एक दुराचारी साधु चेतनदास सबलसिंह को मनोनुकूल राय देकर उसके गिरने में सहायता देता है। सबलसिंह ऋण के कारण हलधर को जेल-खाने भेजता है पर एकाकिनी राजेश्वरी को समाज के भय से या हृदय की दुर्बलता से देखने नहीं जाता। तब राजेश्वरी बदला लेने के विचार से सबलसिंह को देवता मानते हुए भी घरद्वार छोड़कर इसके पास चली आती है। इधर चेतनदास सबलसिंह के घर पर

निमंत्रित हो पहुँचते हैं और जनाने में घंटों बैठकर अपनी करामात दिखलाते हैं। सबलसिंह के तीन दिन न आने पर राजेश्वरी उलहना देकर नित्य आने को कहती है और बातों से अपनी ओर आकर्षित करती है। दोनों दूर देश जाने का निश्चय करते हैं। सबलसिंह का भाई कंचनसिंह, जो अविवाहित था, इस प्रेमलीला का पता लगाकर राजेश्वरी के पास पहुँचता है और उससे बाहर जाने को मना करता है। वह इसे भी अपनी ओर आकर्षित करती है और यह बात स्वीकार कर लेती है। बाहर जाना अस्वीकार करने पर सबलसिंह को कंचनसिह पर संदेह होता है और वह इसे मार्ग से हटाने का विचार करता है। इधर उनकी पत्नी ज्ञानी चेतनदास के दर्शन को जाने लगती है। गाँव भर में केवल एक फत्तू मियाँ हलधर के सगे मित्र बनाए गए और अपना सर्वस्व गँवाकर वह हलधर को छुड़ा लाया। हलधर बदला लेने निकलता है और मार्ग में चेतनदास के यहाँ जाती हुई ज्ञानी की डाँकुओं से रक्षा करता है। चेतनदास सबलसिंह के विरुद्ध मुकदमा इसलिए चलवा देता है, जिसमें उनके फँस जाने पर ज्ञानी उसकी हो सकेगी। पुलीस आने पर ज्ञानी पर अपना प्रभाव डालने और उसका विश्वास अपने पर बढ़ाने के लिए वह सबलसिंह का जामिन बनकर उसे छुडाता है क्योंकि पुलिस उसी की बुलाई आई थी। सबलसिंह कंचनसिंह को स्वयं मारने को तैयार होता है और हलधर इसे तलवार लेकर मारने आता है तब यह चालाकी से उसे समझाकर कंचनसिंह को गंगा के किनारे मार डालने की राय देता है। कंचनसिंह आत्महत्या करने को जब गंगा में कूदता है तब हलधर, जो उसे मारने आया था, जल में से उसे निकालकर बचाता है। चेतन-

पास आकर हलधर को पुनः सबलसिंह को मारने को उभाड़ता है पर कंचनसिंह रोकता है। इधर ज्ञानी चेतनदास के पास कृतज्ञता दिखलाने जाती है और वह उसे अकेला पाकर अपनाता है। सबलसिंह भाई की हत्या से उन्माद-ग्रस्त-सा हो जाता है और अब राजेश्वरी के पास जाकर उसका सतीत्व माँगता है पर वह अपने 'सत' पर दृढ़ रहती है। सबलसिंह राजेश्वरी के यहाँ से अपने घर चला जाता है और ज्ञानी से भी अपने को तिरस्कृत समझकर पिस्तौल से आत्महत्या करना चाहता है कि हलधर ठीक समय पर उसे मारने को पहुँचता है पर आत्महत्या करते देखकर बचाता है। अब हलधर राजेश्वरी को मारने चलता है। इधर सबलसिंह को खोजते हुए ज्ञानी राजेश्वरी के घर जाती है और हीरा की कनी खाकर मर जाती है। राजेश्वरी फाँसी लगाकर आत्महत्या की तैयारी करती है कि हलधर भी ठीक अवसर पर पहुँचकर रस्सी काटकर उसकी जान बचाता है। चेतनदास आत्महत्या करता है और सबलसिंह अपने भाई तथा पुत्र के साथ विरक्त हो जाता है। इधर हलधर के गाँव में बधावा बजता है।

श्वरी को अंत तक विश्वास रहा। ऐसा ही दिखलाया भी गया है, केवल अंत मे प्रेम को कामलिप्सा बतला दिया गया है। कई दुःखपूर्ण घटनाओं के कारण आत्महत्या करने का निश्चय कर कोई किसी का सतीत्व हरण करने न जायगा। नाटककार ने केवल अमीर जमीदार होने के कारण ही सबलसिंह का, उसके भाई तथा साध्वी पत्नी का पतन दिखलाया है और गरीब होने के कारण अकारण घर को त्यागनेवाली, महल में संपत्ति के बीच स्वेच्छा से जाकर रहनेवाली तथा बराबर अन्य पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए रात्रि मे एकाकिनी उनके साथ रहनेवाली राजेश्वरी को 'सत' पर दृढ़ रखा है। हलधर किसान होने के कारण ही ऊँचे उठाया गया है और उसके तीन तीन शिकारों की उसीसे रक्षा कराना प्रदर्शित किया गया है। फत्तू मियाँ द्वारा घर-द्वार वेंचकर हिंदू पड़ोसी की सहायता कराई गई है। यह सब नाटककार के विशेष ध्येय रहे हैं, पर सभी अनुभव-विरुद्ध तथा अस्वाभाविक है। एक हरे भरे घर के ध्वंस पर मौलूद शरीफ इसी विचार से कराया गया था।

चरित्र-चित्रण के लिए दो युगल मूर्तियाँ हलधर-राजेश्वरी तथा सबलसिंह-ज्ञानी और दो अन्य कंचनसिंह तथा चेतनदास ही मुख्य पात्र है पर एक विशेषता यह सबमे है कि उनका चरित्र आप से आप स्वाभाविक प्रवाह से नहीं चल पाया है प्रत्युत सूत्र द्वारा परिचालित ज्ञात होता है। प्रथम युग्म मे यह पूर्ण रूप से तथा द्वितीय मे कुछ कम है। द्वितीय मे कुछ अन्तर्द्वंद्व भी विकसित हो पाया है। कंचनसिंह तथा चेतनदास का चित्रण भी पूर्णतः स्वाभाविक नहीं हो सका है। रस के नाते किसका नाम लिया

जा सकता है, जबरदस्ती शृंगार, करुण कह लीजिए। वास्तव में यह नाटक बिना जासूस का जासूसी उपन्यास-सा है, जिसमें खून, आत्महत्या का ही जोर है।

आपने उक्त दो के सिवा एक और नाटक लिखा है, जिसका नाम स्यात् 'प्रेम की बलि वेदी पर' है।

बदरीनाथ भट्ट

रामायण के टीकाकार आगरा-निवासी रामेश्वर भट्ट के यह पुत्र थे। इनके दो बड़े भाई श्रीविश्वेश्वरनाथ तथा केदारनाथ भी साहित्य-सेवी हैं। बी० ए० पास कर बदरीनाथ लेख लिखने लगे, जो सरस्वती में छपते थे तथा वहीं से निकलनेवाले पत्र बालसखा के पहिले-पहिल संपादक हुए। इसके बाद सुधारक के भी कुछ दिन तक संपादक रहे। लखनऊ विश्वविद्यालय खुलने पर यह हिंदी के अध्यापक नियत हुए और अंत तक वहीं रहे। १ मई सन् १९३४ को तैंतालिस वर्ष की अवस्था में इनका देहांत हो गया। यह सुकवि, पत्रकार, परिहास-लेखक तथा नाटककार थे। दुर्गावती, चंद्रगुप्त, वेन-चरित, तुलसीदास आदि कई नाटक लिखे हैं जिनमें प्रथम विशेष प्रसिद्ध है।

दुर्गावती गढ़ामंडल की रानी थी, जिस पर अकबर ने केवल स्वत्व लालसा से चढ़ाई की। रानी ने बड़ी वीरता से सामना

चंदनसिंह की पत्नी का त्याग तथा साहस देशभक्ति का अच्छा उदाहरण है। हास्य की योजना अनवसर पर की गई है और वह भी गिरधारी का गिड़धाड़ी करके हास्य लाने का निर्जीव प्रयास मात्र है। वीर-रस प्रधान नाटक के योग्य चरित्र-चित्रण कोई भी नहीं हो सका है और कथा-संगठन भी कहीं अति मंथर गति तथा विस्तार से और कहीं अति संक्षेप तथा व्यर्थ की जल्दी के साथ हुआ है। इतिहास-विरोधी बातों का प्रयोग कथानक का उन्नायक नहीं हो सका है। कथोपकथन सरल तथा व्यवहारिक भाषा ही में हुआ है पर कहीं-कहीं स्वगत भी कविता में कहा गया है। शाही दरबार की मर्यादा का नाटककार ने कुछ भी ध्यान नहीं रखा है। कविताएँ प्रायः सब शिथिल हैं, और शेर रानी आदि सबसे कहलाया गया है। नाटक, अभिनय की दृष्टि से लिखा हुआ कहा गया है पर तीसरे अंक का रंगमंच पर सफलता से दिखलाना संभव नहीं।

इनका प्रथम नाटक कुरुवनदहन सन् १९१२ ई० की कृति है और भट्टनारायण के वेणीसंहार के आधार पर बना हुआ है। कुछ हेर फेर के साथ यह अनुवाद ही कहा जा सकता है। शुद्ध तथा सफल अनुवाद भी कठिन कार्य है और उस पर वेणीसंहार क्लिष्ट भी है अतः यह स्वतंत्र अनुवाद का प्रयास है। कुछ नए पात्रों की कल्पना भी की गई हैं और परिहास लाने का प्रयत्न भी किया गया है। इसकी भाषा सरल तथा सुगम है और कविता भी खड़ी बोली में अच्छी की गई है। इसके दो वर्ष बाद 'नुंगी की उम्मीदवारी या मेंबरी की धूम' प्रहसन लिखा गया, जो साधारण कोटि का हुआ है। भाषा इसकी उर्दू मिश्रित है और यत्र तत्र

हास-परिहास की मात्रा भी काफी है। इसके दूसरे वर्ष चंद्रगुप्त नाटक लिखा गया, जिसमें पाँच अंक हैं। अंकों को आपने सीनों में बाँटा है, गनीमत है कि अंक को एक्ट और नाटक को ड्रामा उर्दूवालों के वजन पर नहीं लिखा है। मुद्राराक्षस की कथानक की समाप्ति के आगे की घटनाएँ लेकर इस नाटक को लिखने का प्रयास किया गया है। भट्टजी प्राचीन इतिहास का बिना मनन किए हुए यह नाटक लिखने गए हैं और मुद्राराक्षसकार के समान गंभीर कूट राजनीति के ज्ञाता भी न होने से यह नाटक केवल हिंदी का पारसी थिएट्रिकल मात्र होकर रह गया है। [illegible] का मेल ध्यान में रखकर ही इसकी रचना की गई है, जो समय का प्रभाव है। न वस्तु-संगठन ही कुछ है और न चरित्र-चित्रण। कुछ यत्र तत्र की कहानी भी इसी में घुसेड़ी गई है। परिहास तो आप किसी न किसी प्रकार स्थानास्थान का विचार किए समावेश कर ही देते हैं। कविता काफी है और अच्छी ही कही जायगी।

उक्त नाटकों के प्रायः सात वर्ष बाद आपने तुलसीदास तथा देवचरित या राजपरिवर्तन लिखे हैं। पहिला तो रामलीला या [illegible] पार्टी के लिए लिखा सा ज्ञात होता है, जिसमें गोस्वामीजी के विषय में प्रचलित अनेक दंतकथाओं का [illegible] [illegible] कर दिया गया है। यह बिल्कुल साधारण रचना है [illegible] दोनों में [illegible] और [illegible] कल्पना के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वस्तु-[illegible] [illegible]

से यह सब आकार बढ़ाने को भर्ती मात्र है। इसकी भाषा उर्दू-मिश्रित है और कुछ कविता भी है। यह नाटक भी साधारण ही है।

इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है कि भट्टजी विशेष सफल नाटककार नहीं हो सके हैं। इन रचनाओं में विशेष मनन या अध्यवसाय भी परिलक्षित नहीं होता और केवल खेल समझकर ही ये नाटक मनमानी तौर पर लिख डाले गए हैं। नाटककार की गंभीरता कहीं भी दृष्टि-गोचर नहीं होती। गंभीर परिस्थिति तो आपके नाटकों में दीखती भी जल्दी नहीं है और उस समय भी परिहास उन्हें मजाक या खेल बना देता है। ये परिहास भी लूटमालसिंह आदि नाम ही तक सीमित हैं, शिष्ट परिहास का तो नाम भी नहीं है। भाषा सरल तथा व्यवहार की होते भी परिस्थितियों के अनुकूल सर्वत्र नहीं है। रसों की दृष्टि से देखा जाता है तो किसी नाटक में किसी विशिष्ट रस का परिपाक होता नहीं मिलता, केवल दुर्गावती में, जो इनका सबसे अच्छा नाटक है, वीर रस अच्छी मात्रा में है। शृंगार, करुण आदि का परिस्थिति रहते भी रसास्वादन नहीं करा सके हैं।

मिस अमेरिकन एक प्रहसन है, जो सन १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें भी पात्रों के नामों की दुर्गति की गई है, जैसे-टट्टूख्वाँ, गिलहरीमारसिंह आदि। इसी प्रकार शब्दों को कुरूप करके ही हँसाने का प्रयास है, जैसे—पंडतजी, इसराज (स्वराज्य), गल्डन-पल्टी (गार्डन पार्टी) इत्यादि। मिसेज अमेरिकन तथा मिस अमेरिकन की बातचीत कहीं-कहीं अत्यंत अश्लील है। ऐसा ज्ञात होता है कि मिस मेयो का गढ़ प्रति शाध्य

के अनुसार उत्तर दिया गया है। इस नाटक का मुख्य व्यापार है मिस अमेरिकन का लोगों को फँसाकर रुपए उगाहना। अपनी माता के उपदेशों के अनुसार चलने से वह सफल भी हुई। इन तीनों की भाषा शुद्ध हिंदी रखी गई है और कहीं-कहीं ठेठ प्रयोग इनसे कराए गए हैं, जो खटकते हैं। भाषा दो प्रकार की चलती रहती है—एक शुद्ध हिंदी और दूसरी फारसी-अरबी मिश्रित। प्रहसन तब भी अच्छा बन पड़ा है, बैठे ठाले दो घंटे का मनबहलाव है पर स्यात् शिष्ट समाज को यह न रुचेगा।

लक्ष्मीनारायण

यह मिश्र ब्राह्मण हैं और खड़ी बोली के सुकवि भी हैं। इन्होंने अब तक अशोक, संन्यासी, राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग आदि अनेक नाटक लिखे हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं। तथा कुछ अभी प्रकाशित होने को हैं। अशोक आपका प्रथम नाटक है, जो सं० १९८४ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। भारत के सुप्रसिद्ध सम्राट् अशोक के जीवनवृत्त को लेकर इस नाटक का वस्तु निर्मित हुआ है और व्यापार का आधिक्य है, जिससे नाटककार प्राचीन-काल के इतिहास के विशेष अभिज्ञ न होने के कारण उसे पूर्णतया सुगठित नहीं कर सके हैं। अशोक का चरित्र निराधार और धर्मनाथ के हाथ का खिलौना, कायर तथा धोखेबाज बनाकर ऐसे विश्वविख्यात सम्राट् के साथ अन्याय किया गया है और उसके साथ साथ मीर एटिपेटर के चरित्र को ऊँचे उठाकर इसे [illegible] पाठकों तथा दर्शकों की दृष्टि में रसा-तल में पहुँचा दिया गया है। कल्पित धर्मनाथ [illegible] का चित्रण चाणक्य की नकल मात्र है पर एक ऐतिहासिक व्यक्ति के चित्रण

में इतनी उच्छृंखलता किसी भी ध्येय की पूर्ति नहीं करती। अशोक ने सनातन-धर्म का त्याग किया था और बौद्ध हो गया था, इसीलिए क्या ऐसा किया गया है, पर ग्रीक भी सनातनी नहीं थे, साहब अवश्य रहे होंगे। ग्रीक पात्रों तथा पात्री, सभी के चरित्र उच्च कोटि ही के दिखलाए गए हैं और ये प्रायः सब अनावश्यक से हैं। नाटक अपने समय की परिस्थितियों का द्योतक भी नहीं हो सका है। अज्ञात ब्राह्मण धर्मनाथ को आधी सेना दे देना, बिना समझे युद्ध को उद्यत होना तथा पिता की आज्ञा का इस प्रकार उल्लंघन करना सभी जयंत के लिए अस्वाभाविक है। भाषा अच्छी ही है। बड़ी प्रसन्नता है कि आपने 'इतिहास की गई बीती बातों को लेकर आँधी और तूफान पैदा करने' का विचार छोड़ दिया है।

अशोक के अनंतर मिश्रजी ने दूसरा नाटक संन्यासी लिखा है, जो नारी-समस्या लेकर चला है। मालती कॉलेज की विद्यार्थिनी है, जिससे उसका प्रोफेसर रमाशंकर तथा सहपाठी विश्वकांत प्रेम करते हैं और इस प्रतिद्वंद्विता के कारण आपस में द्वेष करने लगते हैं। मालती का एक अन्य सहपाठी सुधाकर रमाशंकर का पक्ष लेकर मालती तथा विश्वकांत दोनों को उनके पिताओं के सामने विद्रूप करता है। उसी कॉलेज के एक अन्य वृद्ध प्रोफेसर दीनानाथ युवती किरणमयी से विवाह करते हैं, जो 'अपटुडेट' है और उन्हें विद्रूप करती रहती है। पत्र-संपादक मुरलीधर की ओर वह आकर्षित होती है, जो राष्ट्र-सेवा में कई बार जेल जा चुके हैं। इन्होंने अविवाहित रहकर देशसेवा का व्रत लिया है पर बाद को पता लगता है कि इन्होंने किरणमयी का

कौमार्य-भंग किया था। विश्वकांत भी इसी प्रकार का व्रत लेता है और अविवाहित रहने की शपथ करता है। इसके अनंतर यह अफगानिस्तान जाकर वहाँ एशियायी संघ खोलता है। इधर मुरलीधर जेल में मरते हैं और किरणमयी उनकी मृत्यु देखकर बेहोश होती है। मालती, विश्वकांत का प्रेम त्यागकर उसके प्रतिद्वंद्वी रमाशंकर से विवाह कर लेती है। मालती रमाशंकर से और दीनानाथ किरणमयी से संसार चलाने के लिए समझौता कर लेते हैं। विश्वकांत मालती से यह सब सुनकर संन्यासी हो जाता है।

इस प्रकार मिश्रजी नारी-समस्या हल कर पाए हैं अर्थात् 'चिरंतन नारीत्व ने पुरुष की अहम्मन्यता पर विजय प्राप्त की है।' कथावस्तु का संगठन अच्छा हुआ है और चरित्र-चित्रण भी पात्रों के अनुकूल हुआ है। रस कौन है, इसका बतलाना कुछ कठिन ज्ञात होता है. प्रेम 'नारकीय' है. प्रेम से बढ़कर संसार चलाने का समझौता है. ऐसी अवस्था में शृंगार का अभाव ही कहा जा सकता है पर है वह अवश्य। इसी प्रकार वीर तथा करुण और कहीं कहीं हास्य का भी कुछ पुट वर्तमान है। परंतु यह सब कथन प्राचीनता बतलाती हैं। नवीनता की दृष्टि से दृश्यों की संख्या बहुत कम कर दी गई है। एक ही अंक के भीतर अनेक दृश्य बदलते जाते हैं पर दृश्य-भेद नहीं किए गए हैं. केवल कोष्ठकों में इनकी सूचना देते हुए कमरे तथा पात्र आदि के शृंगार बतला दिए गए हैं। नाटक अभिनेय भी है और अच्छा बन पड़ा है।

भूमिका में लिखते हैं कि 'हमारी खेल तो यही समान होगी।'

इसलिए 'हम सब क्या थे या क्या हैं। बल्कि इसमें है कि हम सब क्या होंगे ? हमारा सत्य हमारे भविष्य मे है। उसी भविष्य को ध्यान में रखकर मैंने इस नाटक की रचना की है और इस तरह के कई और नाटकों की रचना करूँगा।' ठीक है, इहलोक की चिंता छोड़कर परलोक की चिंता सदा भारत करता आया है, उसी का यह वाक्य रूपांतर ज्ञात होता है या हो सकता है कि मेरे 'ऐसे लोग समझने का प्रयत्न नहीं करते।' संन्यासी नाटक के बाद राक्षस का मंदिर लिखा गया है, जिसका वृत्त नीचे दिया जाता है।

असग़री रामलाल वृद्ध वकील की मुसल्मानी युवती वेश्या है। रामलाल का पुत्र रघुनाथ और मित्र मनोहर युवक हैं। रघुनाथ तथा असग़री में स्वभावतः आकर्षण होता है और पिता की मदिरा भी वह पीता है। अंत में रामलाल कुछ चालाकी से दोनों को एक साथ कर ठीक समय पर पहुँच कर पुत्र को अलग कर देता है। क्रांतिकारी मनोहर पुलीस के भय से रामलाल के घर मे छिपता है, पुलीस पकड़ने आती है और सी० आई० डी० अफसर उसका पिता बन जाता है। अतः उसे छोड़कर चल देता है। मनोहर ही का पहिले मुनीश्वर नाम था। रामलाल, मनोहर तथा असग़री को प्रेमालिंगन करते देखते हैं, कुछ हुज्जत होती है और अंत में रामलाल यह सब देखकर विरक्त हो जाता है। असग़री तथा रघुनाथ चले जाते हैं और मनोहर रामलाल पर दबाव डालकर कुल संपत्ति वेश्यासुधार के लिए मातृ-मंदिर के नाम लिखवा लेता है। असग़री एक स्कूल मे अध्यापिका हो जाती है और वहाँ को एक लड़की ललिता के साथ रहते हुए शालिग्राम की पूजा करने लगती है। रघुनाथ और मनोहर से एकाएक भेंट होती है।

मनोहर असारी को बलात् ले जाना चाहता है और रघुनाथ उसकी रक्षा करता है। अंत में ललिता असारी को मुसल्मानी जानकर गृह से निकाल देती है और रघुनाथ भी उनका आतिथ्य न स्वीकार कर चला जाता है। मातृ-मंदिर तैयार होता है और उसके उद्घाटन का उत्सव किया जाता है। इस मातृ-मंदिर की पोल भी कुछ बातचीत से खोल दी जाती है। असारी वहाँ पहिले ही पहुँच गई थी और ललिता तथा रघुनाथ देखने आते हैं। इनमें बातचीत होती है। पहिले रघुनाथ उसके प्रेम को स्वीकार नहीं करता है पर जब ललिता भी इस तिरस्कार से 'आत्मा के जग जाने' से अस्वीकार कर देती है तब वह बहुत प्रयत्न करता है पर चिरंतन नारीत्व दृढ़ रहता है। असारी, जो विरक्त बन बैठी थी, अब मुनीश्वर उर्फ मनोहर के मंदिर में अर्थात् राक्षस के मंदिर में रहने लगती है।

वस्तु-संगठन खूब हुआ है पर पात्रों का चरित्र-चित्रण नाटककार के ध्येय या इच्छानुकूल हुआ है, सर्वत्र स्वाभाविक नहीं है। चरित्र रोमांटिक बना दिए गए हैं और प्रेम सांसारिक बनाया गया है। रोमांटिक प्रेम का त्याग स्त्री द्वारा दिखलाकर उनका पुरुष पर विजय स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार विश्वकांत मालती द्वारा तिरस्कृत होकर संन्यासी हो गया है, उसी प्रकार रघुनाथ इनमें ललिता द्वारा। अब इनके अनंतर इसी प्रकार तीसरे नाटक में मुक्ति का रहस्य बतलाया गया है।

उमाशंकर शर्मा असहयोग की लहर में प्रोफेसरी छोड़ देता है और उसकी स्त्री लम्बी बीमारी उठाकर और एक छोटे बच्चे को छोड़कर मर जाती है। स्वराज्य के प्रयत्न में वह जेलखाने को

हवा खाता है। आशा देवी ने शर्माजी की इस विपत्तिकाल में सहायता की और दोनों में 'रोमांटिक' प्रेम हो गया। इसी प्रेम के कारण उसने शर्माजी की स्त्री को विष देकर मरने में उसकी सहायता की, क्योंकि वह दो वर्ष से तपेदिक से बीमार थी। विष वह एक डाक्टर से लाई थी, कुछ आशा दिलाकर और विष देने की पत्र रूप में उसे एक सनद भी दे दिया था। उस सनद के सहारे डाक्टर साहब उसपर हावी हो गया और उसका कौमार्य-भंग कर डाला। इसपर आशा का नारीत्व जग उठा। इसी समय शर्माजी के चाचा काशीनाथ ने पहुँचकर इनसे पढ़ाई के व्यय के बदले में इनके हिस्से की दस्तबरदारी लिखवाकर संपत्ति से इनको 'मुक्ति' दे दी। अब आशा देवी ने भी कुल कथा कहकर तथा शर्माजी को उपास्य मूर्ति बना-कर अपनी ओर से इन्हें कम-से-कम इस जीवन के लिए, अन्य जीवन के लिए नहीं, मुक्ति दे दी और अपने 'प्रियतम' तथा प्रथम पुरुषके यहाँ चल दी। शर्माजी अपने पुत्र को गोद में लेकर मुक्ति का रहस्य समझने लगे। जन्म का अवारा डाक्टर, जो केवल काम-लिप्सा के चरितार्थ होने की आशा में हत्या में साझीदार हो गया था, आशा देवी का कौमार्य-भंग करने के उपरांत अपने शिकार की आत्महत्या की चेष्टा देखकर सच्चा साधु बन जाता है और उसके 'प्रियतम' कहते ही विवाह करना स्वीकार कर लेता है।

इस नाटक के मुख्य पात्र तीन हैं—आशा, उमाशंकर तथा डाक्टर। प्रेम के नामपर आशा पहिले विपन्न उमाशंकर की सहा-यता करती है पर उसी सहायता को आड़ में उनकी स्त्री को ले बीतती है। सहानुभूति, समवेदना तथा सहायता से वह उमाशंकर

का प्रेम आकर्षित करना चाहती है और आकर्षण होता भी है। इतना कार्य हो जाने पर भी वह या दोनों ही आगे नहीं बढ़ते, मानों किसी घटना के घटित होने की आशा में रुके हैं। बस वह घटना हो गई और दोनों को मुक्ति मिल गई। यह कैसा अस्वाभाविक रहस्य है? केवल एक पाप कहना आशा के लिए दूभर हो गया और जब वह दूसरा पाप प्रथम को छिपाने के लिए कर चुकी तब दोनों को कह डाला। दो पाप करने पर वह आत्महत्या की असफल चेष्टा करती है पर प्रेम के नाम पर पहिली ही बार आत्महत्या की चेष्टा विशेष स्वाभाविक होती। स्यात् उसे उमाशंकर के प्रेम में शंका थी। कहती है 'कैसा था वह प्रेम भगवन्?' उमाशंकर का चरित्र उमाशंकर का नहीं ज्ञात होता, वह नाटककार के हाथ का खिलौना मालूम होता है। जो जैसा कह देता है, वह मानता चला जाता है। उसका निजी व्यक्तित्व कुछ नहीं है। डाक्टर दुष्ट चित्रित किया गया है पर उसे भी अंत में नाटक का घटना-प्रवाह मिलाने के लिए साधु पुरुष बना दिया गया है।

यह सब विचार रहते हुए भी नाटक अच्छा है और जिस ध्येय को लेकर लिखा गया है उसकी पूर्ति करता है। अब राजयोग नाटक लीजिए।

बिहारीसिंह को कोई संतान न थी। उनकी स्त्री ने नौकर गजराज से एक लड़की चंपा पैदा की। यह विद्यालय में पढ़ती थी। इसके सहपाठी रतनपुर के राजकुमार शत्रुसूदन तथा मंत्री-कुमार नरेंद्र थे। नरेंद्र से चंपा का पारस्परिक प्रेम था और दोनों के विवाह की हल्दी भी हो गई थी पर शत्रुसूदन ने प्रभाव डालकर उससे अपनी शादी कर ली और नरेंद्र गृहत्यागी हो

गया। इसी घटना के बाद से नाटक आरंभ होता है। पहिले अंक में शत्रुसूदन अपने सिद्धांत के अनुसार वृद्ध मंत्री रघुवंशसिंह को पद से हटा देता है, इस पर गजराज को चौबीस वर्ष पहिले का पाप याद आ जाता है और सबसे 'पाप पाप' कहने लगता है। इसी अवसर पर नरेंद्र राजयोगी बनकर रंग-मंच पर आ जाता है और सभी पात्रों को कठपुतली के समान नचाता है। ऐसा स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वह पुराना रहस्य जानकर शत्रुसूदन से बदला लेने ही के लिए आया है और गजराज की यह पाप कल्पना उसी रहस्य को सब पर प्रकट करने का साधन मात्र बनायी गई है। नरेंद्र गजराज को हिप्नोटाइज़ कर शत्रुसूदन तथा चंपा के सामने वह भेद खोल देता है और उसका जो प्रभाव होना वह चाहता था वही होता है। उसे चंपा पर भी शक था कि वह उसे भूल गई है और अपनी गृहस्थी सुख से चला रही है। नरेंद्र का प्रेम उसपर बना है और चंपा अवश्य उसे बहुत कुछ भूल गई है, यह नाटक में नरेंद्र के दूर से अकेले उसको बारबार देखने तथा चंपा के उसे न पहिचानने से मालूम होता है। अंत में इस प्रतिहिंसा को छिपाने तथा राजयोग की प्रभुता प्रकट करने का आडंबर फैलाया जाता है। चंपा अपना पुराना प्रेम उसे न पहिचानते हुए प्रकट करती है, नरेंद्र अपना परिचय देता है और उससे अपनी विरक्ति बतलाता है। चंपा के प्रति शत्रुसूदन के तिरस्कार का यदि एक कारण था तो नरेंद्र के तिरस्कार का दो कारण था। इसीसे कहता है कि 'आज से मैं तुम्हारा प्रतिद्वंद्वी नहीं रहा राजकुमार।' इसकी प्रतिहिंसा पूर्णरूपेण चरितार्थ हो चुकी थी और इसीसे वह संन्यास स्वीकार न कर कर्मयोगी बन गया।

कथावस्तु विशेष सुगठित नहीं हो सका है और चरित्र-चित्रण किसी एक पात्र का भी पूर्ण रूपेण नहीं हो सका है। शत्रुसूदन सच्चे स्वामिभक्त वृद्ध मंत्री पर इतना रोब गाँठता है, पर एक अज्ञात पुरुष के सामने, स्यात् उसके हिप्नौटिज्म की शक्ति के वशीभूत होकर, बच्चे के समान आज्ञाकारी हो जाता है। कोई भी नरेंद्र को नहीं पहिचानता, यद्यपि सभी उसे पाँच वर्ष पहिले पूरी तरह जानते थे। एक का पुत्र था, दूसरे का बाल्यकाल का मित्र था, तीसरे का प्रेमी तथा सहपाठी था और चौथे के 'मालिक' का पुत्र था। यह सब कहाँ तक स्वाभाविक है, नहीं कहा जा सकता। नाटक अवश्य ही आकर्षक हो गया है और पठनीय तथा अभिनेय दोनों है।

भाषा पर मिश्रजी का अच्छा अधिकार है पर कहीं-कहीं कुछ बातें खटकती हैं। 'काँटा बनेगा उसे फूँक दूँगी' यह विचित्र बात है। काँटा का कार्य गड़ना है और शरीर ही में गड़ जाने पर कष्ट देता है। ऐसी हालत में उसे फूँक देना महानूर्खता होगी। इसी प्रकार 'बीमारी की जड़ निकाल लूँगा' भी है, अर्थात् न मर्ज रहेगा और न मरीज बचेगा। अलफी कमख्वाब के समान एक प्रकार का कपड़ा होता है, उसे पहिर लेना कैसा? वह चादर, दुशाला, दुपट्टा आदि नहीं है।

मिश्रजी ने अपने कई नाटकों में लंबी भूमिकाएँ दी हैं और उनमें इन नाटकों के विषय में कम और अपने दृष्टिकोण पर अपने बुद्धिवाद पर तथा अपनी आलोचना पर प्रत्यालोचना ही अधिक लिखा है, इन सब में आत्म-श्लाघा भरी हुई है। खैर, जहाँ तक कुछ विशेष हर्ज नहीं पर साथ ही दूसरों पर विशिष्ट प्रसिद्ध

पुरुषों पर, धूल उड़ाई गई है। 'द्विजेंद्रलाल राय से बढ़कर अंतः-करण का अंधा साहित्यकार मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं आया।' 'स्त्री और पुरुष के संबंध का आधार जहाँ तक वे (बर्नार्ड शॉ) समझ सके हैं—वासना की क्षुद्र प्रवृत्तियाँ हैं।' इत्यादि कथन मिश्रजी अपनी अहंता के कारण, दूसरों की पगड़ी उतारकर नाम पैदा करने के लिए कह रहे हैं। यशलिप्सा बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, देवताओं तक को वशीभूत कर लेती है। यदि आपकी रचनाएँ ऊँचे उठ जायँगी तो द्विजेंद्र बाबू या बर्नार्ड शॉ कुछ भी रहे हों आपका यशकीर्तन अवश्य ही फैलेगा। दूसरे की कीर्ति के ध्वंस पर अपना यशःस्तंभ खड़ा करने का प्रयास निरर्थक तथा उपहासास्पद ही होगा। स्थानाभाव के कारण, शोक है कि विस्तार से मिश्रजी के नाटकों की खूबियाँ नहीं दिखलाई जा सकीं। इधर आपने 'आधी रात' में भी अच्छा नाट्य-कौशल दिखलाया है।

जगन्नाथप्रसादजी 'मिलिंद' सुकवि हैं। अब आप विश्व-भारती, शांति-निकेतन में अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। आपने

मिलिंदजी

प्रताप-प्रतिज्ञा नाटक बहुत पहिले लिखा था पर वह सन् १९२९ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसमें मेवाड़पति महाराणा प्रताप के राज्याभिषेक से उनके अंत तक का वृत्त लेकर नाट्य-कथावस्तु का निर्माण हुआ है। प्रथम अंक में विलासी जगमल चंद्रावत कृष्ण-जी के अनुरोध पर प्रताप के लिए गद्दी त्याग देता है। उन्हीं के कथन पर प्रताप उसे स्वीकार करते हैं। अहेर में प्रताप और शक्त लड़ जाते हैं और पुरोहितजी का बलिदान लेकर भी शक्त को देश-निर्वासन की आज्ञा मिलती है। वह कष्ट पाकर प्रतिशोध

और उनके उच्चपद के अयोग्य हैं, साधारण नाटकों तथा तमाशों से देखकर नाटककार गण उन्हें अपनी रचनाओं में बिना विचारे स्थान दे देते हैं। इसमें भी ऐसा किया गया है। जैसे—'करारी तलवार' ताने हुए महाराणा प्रताप का मानसिंह के आगे आ धमकना और उस प्रकार की बातचीत करना।

चरित्र-चित्रण में व्यापार की कमी से कमी आ गई है, तब भी जो कुछ है, अच्छा है। कथोपकथन पात्रों के प्रायः अनुकूल हुआ है। कुमार पृथ्वीराज उर्फ पृथ्वीसिंह का आरंभ में कुछ विचित्र चित्रण हुआ है तथा उसी के अनुकूल बातचीत दिखलाई गई है पर बाद को वह अपने पद के अनुकूल हो जाते हैं। ऐसा हास्य-रस का समावेश करने के लिए किया गया है, पर मजाक कहीं-कहीं गाली की कोटि में चला गया है।

उग्र

काशी-वासी बेचन शर्मा पांडेय का उपनाम 'उग्र' है। आपका लाला भगवानदीनजी 'दीन' से विशिष्ट परिचय था और उनके यह शिष्य तथा मित्र दोनों ही थे। आप गल्प तथा उपन्यास दोनों के लेखक हैं और उनमें समाज के नग्न चित्र ही, वह भी दुर्नीतिपूर्ण अंश के, अंकित करने में व्यस्त हैं। ऐसी कृतियों में समाज को उठाने का प्रयास नहीं है, केवल शोख रंगों से रंजित चित्र ही चित्र हैं, जिनका प्रदर्शन संयम की बाँध तोड़ देने में थोड़े तक सफल हो सकता है। स्यात्, यह कुछ ऐसा ही ध्येय रखकर किया गया हो, क्योंकि ऐसी रचनाओं का जनसाधारण में प्रचार शीघ्र तथा अधिक होता है। यद्यपि यह चित्रण अधिकतः वास्तविक है पर साहित्य के उस रूप में आने पर कुरुचिपूर्ण हो गया है।

गल्प तथा उपन्यासों के सिवा आपने नाटक तथा प्रहसन भी लिखे हैं। महात्मा ईसा नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें अनेक रसों का समावेश है तथा पात्रगण भी कई कोटि के हैं—देवता भी हैं, राक्षस भी और देवी हैं, तो राक्षसी भी। इनका चित्रण अत्यंत स्वाभाविक है। भाषा में भी इतनी क्षमता है कि अनेक प्रकार के भाव, विचार, चित्रण आदि को सफलता-पूर्वक व्यक्त करती है और वह भी सरल सुगम रूप में। इनकी बातों का श्रोता तथा दर्शक पर प्रभाव भी पड़ता है। इनके 'चार बेचारे' संपादक, अध्यापक, सुधारक तथा प्रचारक की इस नामांकित नाटक में खूब खिल्ली उड़ाई गई है। सुधारकजी तथा प्रचारकजी का तो अत्यंत नग्न चित्र दिखलाया गया है। चार छोटे छोटे प्रहसनों का संग्रह है।

आपका 'कुंदन' और उनकी सजधज निराली है। आपका पहिला नाटक है महात्मा ईसा और दूसरा है 'गंभीर' कुंदन। यह लिखा भी कब गया है जब '१४ वर्ष पहिले से मेरा नाटकीय ज्ञान आज—सुभान अल्लाह!—कहीं आगे है।' ठीक है, इसे भी इसकी कुछ दाद देनी ही पड़ेगी। वस्तु-व्यापार इतना ही है कि लकड़हारा मदन, उसकी पत्नी मैना तथा पुत्र किशन बड़े गरीब हैं। महाजन दौलतराम लाखों का लेनदेन करता है और वह उसकी पत्नी को शादी पर रख लेना चाहता है। एक दर्द [illegible] वह उसे निकाल देता है क्योंकि वह उसका [illegible] [illegible] को चोरों से [illegible] देता है। [illegible] 'राजा [illegible]' [illegible] के पास [illegible] उसे [illegible] है पर [illegible] 'कमल' के [illegible] निकलता है तो अपनी पत्नी और पुत्र को [illegible]

के पीछे मरा पाता है। वह रुपए नदी में 'एक एक कर' बहा देता है। इसमें वस्तु के सुसंगठन की तथा चरित्र-चित्रण की गुंजाइश ही कहाँ है, केवल गरीबी की मजाक उड़ाई गई है। अस्वाभाविकता नाटक में जगह-जगह भरी है। लाखों का लेन-देन करनेवाला लाठी लिए रुपए उगाहता फिरता है। श्रद्धा या भक्ति की हँसी उड़ाई गई है। भारत में परिश्रमी मजदूर आठ आने रोज कमाकर भी दो तीन प्राणीयों के साथ इज्जत से दिन व्यतीत कर लेते हैं, उनकी इस तरह दुर्दशा दिखलाना सत्य की हत्या करना है। वातचीत में अश्लीलता स्थान-स्थान पर मिलती है। भापा में भी उर्दूपन अर्थात् फारसी अरबी के शब्द भरे पड़े हैं। पुस्तक की सजावट व्यर्थ है और भारत के गरीब पाठकों का 'चुंबन' द्वारा धन अपहरण करने का एक ढोंग है।

इनके सिवा उग्रजी ने और भी कई एकांकी नाटक लिखे हैं। उजबक तथा इधर हाल में 'डिक्टेटर' भी आपने लिखा है।

पंतजी ने नाट्यकला तथा अभिनयकला दोनों के ज्ञाता होने के कारण 'वरमाला' नाटक लिखने में विशेष सफलता प्राप्त की है। इसमें मुख्यतः चार पात्र हैं और इनमें भी केवल दो प्रधान हैं। इसका आख्यान मारकंडेय पुराण से लिया गया है और थोड़ा हेरफेर भी किया गया है। इसमें तीन अंक तथा ४+२+३ दृश्य हैं। इसमें केवल ४ गेय पद हैं और बाकी सब गद्य है। यह नाटक तथा थिएट्रिकल के मेल-सा है। छोटा होते भी व्यापार कम नहीं है और वस्तु का संगठन अच्छा है। चरित्र-चित्रण केवल अवीक्षित तथा वैशालिनी का किया गया है और बहुत अच्छा किया गया

गोविंदवल्लभ पंत

है। मूक दृश्य तथा तृतीय अंक के प्रथम दृश्य के उपदृश्यों का समावेश रंगमंच की जानकारी मात्र दिखलाती है पर यह सब अस्वाभाविक प्रतीत होता है। सारा स्वयंवर हो जाय, कन्या-हरण हो, युद्ध और विप्लव हो पर सब मूक, दृश्य के अंतर्गत तीन उपदृश्य आवाज के साथ फटें, बातचीत सब कुछ हो पर निद्राभंग न हो यह सब स्वाभाविक नहीं ज्ञात होता। यह सब होते भी नाटक अच्छा बन पड़ा है और अभिनेय भी है। इस नाटक के वक्तव्य में पंत जी के अन्य नाटकों का भी उल्लेख है। आपने 'कंजूस की खोपड़ी' प्रहसन बहुत पहिले लिखा था, जो साधारण रचना है।

'राजमुकुट' में मेवाड़ की वीरांगना पन्ना धाय का वह कथानक है, जिसमें उसने राणा उदयसिंह की बनबीर से रक्षा करने में अपने एकमात्र पुत्र को बलि चढ़ा दिया था। इस नाटक का अभिनय भी हो चुका है। नाटक मनोरंजक है। प्रायः तीन वर्ष हुए कि आपने 'अंगूर की बेटी' नाटक प्रकाशित कराया है, जिसमें तीन अंक तथा पंद्रह दृश्य हैं। इसमें दिखलाया गया है कि शराब से किस प्रकार घर नष्ट होता है और सत्संग से पुन: वह हराभरा हो सकता है। कथावस्तु का गठन अच्छा है और नायक मोहनदास तथा दो एक अन्य पात्र का चरित्र-चित्रण भी अच्छा किया गया है। यह नाटक अभिनेय भी है।

सुदर्शन

आप लाहौर के रहनेवाले हैं। यह प्रेमचंद के समान ही पहिले उर्दू के लेखक थे और बाद को हिंदी के क्षेत्र में चले आए। गल्प-लेखन में यह प्रेमचंद जी के साथ समकक्ष ही कहे जायँगे। इन्होंने कई मौलिक उपन्यास लिखे हैं तथा अनुवाद भी किए हैं।

इनका प्रसिद्ध नाटक 'अंजना' सं० १९८० में प्रकाशित हुआ था। यह प्रायः पौने दो सौ पृष्ठों का हो गया है, और काट-छाँट कर अभिनय योग्य बनाया भी जा सकता है। पौराणिक आख्यान को लेकर वर्तमानकाल की रोशनी में लिखा गया है। वस्तु-संगठन शिथिल है और चरित्र-चित्रण भी हुआ है पर दोनों में उपयुक्त सफलता नहीं मिल सकी है। नाटक साधारणतः अच्छा है। इन्होंने एक प्रहसन 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' भी लिखा है, जो सन् १९२७ ई० में प्रथमबार प्रकाशित हुआ है। दो निरक्षर मूर्ख ग्रामीण मक्खीचूस धनिकों को ऑनरेरी मैजिस्ट्रेसी मिलती है और किस प्रकार वे उसे निवाहते हैं, यही बड़े मजाक के साथ इसमें दिखलाया गया है। भाषा प्रहसन के उपयुक्त है। कुछ ऐसे शब्द भी रखे गए हैं, जो साधारण जनता द्वारा बिगड़े रूप में प्रचलित हैं। यह प्रहसन मनोरंजन मात्र है। आपने एकांकी चंद्रगुप्त भी लिखा है।

पं० विश्वंभरनाथजी कौशिक कानपुर के रहनेवाले हैं। आपने कई उपन्यास तथा बहुत से गल्प लिखे हैं। आपने भीष्म नाटक भी लिखा है, जो कई बार खेला जा चुका है। महाभारत के सुप्रसिद्ध वीराग्रगण्य भीष्म पितामह के चरित्र को लेकर इस नाटक की रचना की गई है। इसमें तीन अंक और अट्ठाईस दृश्य हैं। वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण अच्छा है। कथोपकथन में स्वगत भी है पर अधिक नहीं है और काफी कविताएँ दी गई हैं। परिहास का भी अच्छा पुट दिया गया है। प्रसिद्ध वीरों का मंच पर गाना स्वाभाविक नहीं ज्ञात होता। यह सब होते भी नाटक अच्छा है।

कौशिकजी

आप व्रजवासी चतुर्वेदी हैं और कर्मवीर के सम्पादक हैं। आप 'भारतीय आत्मा' उपनाम से कविता करते हैं। आपने 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक लिखा है, जिसका अभिनय भी

माखनलाल

हो चुका है। आप मध्यप्रदेश के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। इनका देश-प्रेम इनकी रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता रहता है। सांसारिक जीवन की अनुभूति भी इनकी बढ़ी-चढ़ी है। नाटक का कथानक इस प्रकार है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मित्र चित्रसेन के वध करने की प्रतिज्ञा की और अर्जुन ने चित्रसेन को उसकी रक्षा का वचन बिना उस प्रतिज्ञा जाने ही दे दिया। भगवान तथा भक्त में इस प्रकार घोर युद्ध हुआ और अर्जुन श्रीकृष्ण द्वारा आहत होकर युद्धभूमि में गिर पड़ा। अर्जुन स्वभावतः अचेतनता में श्रीकृष्ण ही को सहायतार्थ पुकारता है और वे भी उसे अपनी गोद में उठा लेते

पवन सुरभित हो चलने लगता है। पक्षीगण अपने नीड़ों में पहुँच जाते हैं और निद्रा में कल्पना स्वप्न दिखलाती है। उषाकाल का समय आता है, चंद्रिका दूर होती है, कोक-कोकी मिलते हैं और अनेक प्रकार की पुष्प-कलियाँ चिटकने लगती हैं। यही इस भावमय नाटक का कथावस्तु है और कवि ने इसे अपनी सुकुमार कल्पना तथा मधुर कवि-कौशल से इतने सुचारु रूप से रूपक में ढाल दिया है कि पढ़ते ही बनता है। हाँ, यह श्रव्य या दृश्य न होकर केवल पाठ्य रह गया है। कथोपकथन में आपने वर्तमान-काल के समाज मे प्रचलित अनेक वाद-विवाद, सुधार, आदि पर भी कुछ लिखा है पर वह सब गौण रूप ही में आया है।

जी० पी० श्रीवास्तव

आपका जन्म अप्रैल सन् १८९१ ई० में श्रीवास्तव कायस्थ कुल मे हुआ है। आप गोंडा के वकील हैं। आपने हिंदी-साहित्य में व्यंग्य, भँड़ौआ, प्रहसन आदि हास्य-रस की रचनाओं की कमी देखकर इस अभाव की पूर्ति का बीड़ा उठा लिया है और अपने 'हास्यरस-सम्राट्' अल्ल को पूर्णतया चरितार्थ करने के लिए हास्य-रस की मटकी को भरने में दत्तचित्त हो गए। ये लिखते हैं कि 'अपने परम पूजनीय गुरू मोलियर के सब नाटकों को अपनाकर हिंदुस्तानी बना डालूँ और यों मोलियर को हिंदुस्तान मे भी जीवित करके उनके नाम की धूम मचा दूँ।' जीन बैपटिस्ट पोकेलिन का नाटकीय नाम मोलियर था, जिसका सन् १६२२ ई० में जन्म तथा सन् १६७३ ई० मे मृत्यु हुई। यह फ्रेंच साहित्य मे व्यंग्य, परिहासमय आक्षेप तथा हास्य-युक्त समाजिक रचनाओं मे अद्वितीय हो गया है। इसने केवल नाटक ही नाटक लिखे हैं। यह सफल अभिनेता भी

था। ऐसे तीन सौ वर्ष से अधिक वयःप्राप्त मोलियर को अपनी रचनाओं के द्वारा गुरु बनाकर श्रीज्ञानन्द जी हिंदी-साहित्य में भी अपने को अद्वितीय, अपने ही क्षेत्र में, बनाने का सफल प्रयत्न कर रहे हैं। आप मोलियर के नाटकों को 'हिन्दुस्तानी बनाकर' लाए हैं और इस कार्य में यदि कमी है तो उनका कहना यह है कि 'जितने समय में मैं दो स्वतंत्र नाटक लिख सकता हूँ उतना समय मेरा इनके केवल एक नाटक के अपनाने में लग जाता है।' इस प्रकार अब तक इन्होंने मोलियर के दस-बारह नाटकों को अपना कर, संस्कार कर, हिन्दुस्तानी बना लिया है और बाकी का भी उद्धार करने में लगे हैं। ये स्वतंत्र अनुवाद करते हैं और वे अनुवाद ऐसे हुए हैं, इनपर रूप से मिलान भी नहीं किया जा सकता है। उस पर ये अनुवाद ही के अनुवाद हैं—फ्रेंच से अंग्रेजी द्वारा हिन्दुस्तानी बने हैं।

में उर्दू ही हो जाती। फारसी के ऐसे शब्द जो ठीक हिंदी के रूप से मिलते हुए भिन्न अर्थ रखते हैं, बड़ी गड़बड़ी मचा देते हैं। यदि वह फारसी के अर्थ में प्रयुक्त हैं और पढ़नेवाला हिंदी ही अर्थ जानता है तब या तो अर्थ की परवाह न कर वह आगे बढ़ जायगा या छापे की भूल समझ लेगा। जैसे एक शब्द 'एकता' लीजिए। हिंदी में इसका ऐक्य, मेल अर्थ है और फारसी में अकेला, अद्वितीय अर्थ है। 'नलिनी सौंदर्य में एकता है', इस वाक्य के हिंदी लिपि में होने से यदि कोई हिंदी का अर्थ लगाकर समझना चाहे तो क्या समझेगा?

आर० पी० ड्यूहर्स्ट नामक हिंदी-प्रेमी सज्जन की राय से, जो अवध प्रांत में बहुत दिनों तक डिस्ट्रिक्ट जज रहे हैं, श्रीवास्तवजी ने उलटफेर नामक एक नाटक लिखा है। यह भाषा तथा नाट्य-कला दोनों दृष्टि से अच्छा बना है। नाटक का नाम तथा पात्रों के नाम भी सार्थक हैं और उनसे वाहियातपन भी नहीं झलकता। आरंभ में गान तथा प्रस्तावना भी इसमें दी गई है और नाटक की व्यापार-शृंखला भी अच्छी प्रकार निभाई गई है। वर्तमान न्यायालय के अनेक दृश्य और अन्य चुने हुए दृश्य खूबी से दिख-लाए गए हैं। दिहाती मुवक्किलों के अवधी भाषा की बोलचाल का काफी उपयोग उक्त अंग्रेज सज्जन की राय से किया गया है। लालचंद का चरित्र-चित्रण भी अच्छा ही हुआ है जो इस नाटक का प्रधान पात्र कहा जा सकता है। इस नाटक में परिहास भी अन्य नाटकों से अधिक शिष्ट है।

नव रस में शृंगार तथा करुण के बाद हास्य ही का स्थान है और साहित्य का यह प्रमुख अंग है। ऐसी अवस्था में नाटकों

मरदानी औरत, गड़बड़झाला, जैसी करनी वैसी भरनी, भूलचूक, दुमदार आदमी, नोकझोंक, उलटफेर आदि विशेष चलते हैं। आप को अपने पात्रों का नामकरण-संस्कार करने में बड़ी सफलता मिली है। धोतीप्रसाद, निपोड़संख, हजामतबेग आदि साधारण नमूने हैं। परंतु इस नामकरण में उतनी भी बुद्धि का उपयोग नहीं ज्ञात होता जितना भँड़ैती के नामों मियाँ लेटरबक्स, शेख हैंडबेग आदि में है। आप शोक प्रकट करते हैं कि 'हम प्रहसन-कला पर जरा भी ध्यान नहीं देते। अगर हमलोग खाली भँड़ैती से संतुष्ट न हों, बल्कि प्रहसन में उसके और गुणों के देखने की इच्छा रखें, गंभीर और हास्य नाटकों को एक ही आदर की दृष्टि से देखने लगें तो जरूर है कि' साहित्यिक लोग भी इधर दृष्टि दें और सुरुचिपूर्ण अच्छे प्रहसन आदि लिखे जायँ पर क्या किया जाय 'अभावे शालि चूर्णं वा'; तब तक श्रीवास्तवजी के ऐसे ही नाटकों से काम चलाया जायगा।

श्रीवास्तवजी ने अपनी भाषा को स्वयं हिंदुस्तानी लिखा है, हिंदी नहीं। पर-दासताप्रिय हिंदुओं ही में कुछ ऐसे लोग हैं, विशेष जाति के या प्रांत-निवासी, जो हिंदू होते भी अपनी मातृ-भाषा को हिंदी बतलाने मे क्यों हिचकते हैं, नहीं कहा जा सकता। स्यात् ग्रामीण भाषा समझकर उसको ऐसा कहते हुए झेंपते हों। सभ्य अंग्रेजी को मातृ-भाषा कह नहीं सकते क्योंकि प्रत्यक्ष झूठ होगा पर समय आ रहा है जब कि ऐसा भी कुछ कह बैठेंगे। श्रीवास्तवजी ने फारसी, अरबी शब्दों की अधिक भरमार किया है, जिससे इनकी भाषा हिंदी न होकर हिंदुस्तानी हो गई है। शब्द-योजना तथा वाक्य-विन्यास फारसी का नहीं हो गया है, नहीं तो नागरी लिपि

के ही हैं। एक बात और है। इन्होंने अपनी रचनाओं को कुछ न कुछ उद्देश्य लेकर ही लिखा है पर प्रायः अधिकांश मे उसकी पूर्ति नहीं हो सकी हैं। सुनकर या देखकर लोग हँस देंगे पर उसका कुछ स्थायी प्रभाव उनके हृदयों पर न होगा। इसके लिए विशेष क्षमता की आवश्यकता है। यह सब होते भी श्रीवास्तवजी का ध्येय उत्तम है और उसकी यथाशक्ति इन्होंने पूर्ति भी की है। साहित्य मे सभी कोटि की कृतियाँ रहनी चाहिएँ और जनसाधारण को छोड़कर केवल शिष्ट-समाज ही के लिए सुरक्षित नहीं रहनी चाहिएँ। अतः ऐसा साहित्य भी संग्रहणीय और आदरणीय है। क्या ही अच्छा होता कि यदि श्रीवास्तवजी अपनी सशक्त परिहासोन्मुख लेखनी से उच्च कोटि के भी प्रहसन लिखते।

आपने सिनेमा के लिए बंटाधार तथा 'चोर के घर छिछोर' नाटक लिखा है तथा लोक-परलोक लिख रहे हैं। रेडियो के लिए भी 'गया जायँ कि मक्का' तथा 'पैदाइशी मैजिस्ट्रेट' लिखा है।

वियोगी हरि

आपका जन्म सं० १९५३ मे हुआ है। आप व्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के सुकवि हैं और व्रजभूमि तथा व्रजराज श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त हैं। आपकी 'वीर सतसई' भारतीय वीरों की प्रशस्तियों का संग्रह है, जिसपर आपको साहित्य-सम्मेलन से मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। आपका अन्तर्नाद भी उल्लेखनीय गद्य-काव्य है। हरिजी की विनयपत्रिका पर विशद टीका बहुत अच्छी बन पड़ी है और उससे इनकी विद्वत्ता तथा साहित्य-मर्मज्ञता पूर्ण रूपेण प्रकट होती है। आपने 'प्रबुद्ध यामुन' एक नाटक लिखा है जो सभी दृष्टि से बहुत ही अच्छा बना है।

में, जो अधिकतर मनोरंजन की सामग्री है, इसका समावेश अत्यंत आवश्यक है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूषक ही को यह कार्य सौंपा जाता था और वर्तमान-काल के नाटकों में भी इनका एकदम अभाव नहीं है पर अब विदूषक के सिवा अनेक नए आलंबन भी इस रस के लिए प्रस्तुत हो गए हैं, जिनका उचित उपयोग अभी तक नहीं किया गया है। इसके लिए केवल कोरी विद्वत्ता ही से काम नहीं चल सकता प्रत्युत् लेखक को कुछ वैसी विशेष चित्तवृत्ति भी होनी चाहिए, जो स्वयं हँस सकता हो और दूसरों को हँसा भी सकता हो तथा समय और अवस्था के अनुकूल ही परिहास करने की उसमें प्रवृत्ति हो। बेमौके की हँसी झगड़े का घर बन जाती है। परिहास के भी भेद हो सकते हैं। साधारण अशिक्षित जनता जिस परिहास पर 'हो-हो' कर पड़ती है, वह शिष्ट-समाज को अश्लील तथा कर्णकटु ज्ञात होगा और वे हँसना तो दूर उससे अप्रसन्न ही हो जायँगे। इसके विपरीत शिष्ट-समाज जिस परिहास को सुनकर आनंद मग्न हो जायगा उसे अशिक्षित और असंस्कृत जनता समझ भी न सकेगी। अंतिम प्रकार के परिहास का, विनोदात्मक उक्तियों का श्रीवास्तवजी में एकदम अभाव है और प्रथम प्रकार का लबालब है। हो सकता है कि उनकी चित्तवृत्ति द्वितीय तक न उठ पाती हो या वह अपनी रचनाओं को अधिक जन-प्रिय करने के लिए ऐसा ही लिखते हों। आपने अपने प्रत्येक नाटक में नाटक-कंपनियों तथा सिनेमा-कंपनियों को लेखक से अधिकार प्राप्त कर उन्हें खेलने का आदेश दिया है, इससे यही स्पष्ट है कि ये जनता को हँसाने के लिए ही लिखे गए हैं। अतः ये प्रायः सभी प्रथम कोटि

के ही हैं। एक बात और है। इन्होंने अपनी रचनाओं को कुछ न कुछ उद्देश्य लेकर ही लिखा है पर प्रायः अधिकांश में उसकी पूर्ति नहीं हो सकी है। सुनकर या देखकर लोग हँस देंगे पर उसका कुछ स्थायी प्रभाव उनके हृदयों पर न होगा। इसके लिए विशेष क्षमता की आवश्यकता है। यह सब होते भी श्रीवास्तवजी का ध्येय उत्तम है और उसकी यथाशक्ति इन्होंने पूर्ति भी की है। साहित्य में सभी कोटि की कृतियाँ रहनी चाहिएँ और जनसाधारण को छोड़कर केवल शिष्ट-समाज ही के लिए सुरक्षित नहीं रहनी चाहिएँ। अतः ऐसा साहित्य भी संग्रहणीय और आदरणीय है। क्या ही अच्छा होता कि यदि श्रीवास्तवजी अपनी नशक्त परिहासोन्मुख लेखनी से उच्च कोटि के भी प्रहसन लिखते।

आपने सिनेमा के लिए बंटाधार तथा 'चोर के घर छिछोर' नाटक लिखा है तथा लोक-परलोक लिख रहे हैं। रेडियो के लिए भी 'गया जायँ कि मक्का' तथा 'पैदाइशी मैजिस्ट्रेट' लिखा है।

वियोगी हरि

आपका जन्म सं० १९५३ में हुआ है। आप ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के सुकवि हैं और ब्रजभूमि तथा ब्रजराज श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त हैं। आपकी 'वीर सतसई' भारतीय वीरों की प्रशस्तियों का संग्रह है, जिसपर आपको साहित्य-सम्मेलन से मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। आपका अन्तर्नाद भी उल्लेखनीय गद्य-काव्य है। हरिजी की विनयपत्रिका पर विशद टीका बहुत अच्छी बन पड़ी है और उससे इनकी विद्वत्ता तथा साहित्य-मर्मज्ञता पूर्ण रूपेण प्रकट होती है। आपने 'प्रबुद्ध यामुन' एक नाटक लिखा है जो सभी दृष्टि से बहुत ही अच्छा बना है।

सुप्रसिद्ध मतप्रवर्तक रामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य आल-वंदार की जीवनी ही इस नाटक का कथावस्तु है। नांदी तथा प्रस्तावना के अनंतर नाटक आरंभ होता है। इसमें पाँच अंक हैं और क्रमशः ५, ५, ६, ५ तथा ४ दृश्य हैं। मथुरा-नरेश वीरसेन की राजसभा में दिग्विजयी विद्वान कोलाहल पंडित की बड़ी धाक थी और वह अन्य विद्वानों से 'पंडित-कर' लेने लगा था। यामुनाचार्य के गुरु से जब यह कर माँगा गया तब इस बाल-विद्वान ने कोलाहल को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। राजमहिषी भी इस कोलाहल से क्षुब्ध थीं, अतः उन्होंने इस शास्त्रार्थ मे विशेष रुचि दिखलाई। कोलाहल ने यामुनाचार्य के गुरु का आश्रम भस्म करने की आज्ञा दे दी थी और उसके साले ने रानी की एक सखी को अपने भवन मे बंद कर लिया था पर राजा की आज्ञा से आश्रम भस्म नहीं हो सका और रानी की आज्ञा से उनकी सखी भी सैनिकों द्वारा छुड़ा लाई गई। शास्त्रार्थ मे कोलाहल परास्त हो जाता है और निस्संतान राजा-रानी यामुन को युवराज बना लेते हैं। इनका विवाह होता है और यह अच्छी प्रकार राजकार्य चलाते हैं। यामुनाचार्य की वन मे भक्ति से भेंट होती है और वह उन्हें उपदेश करती है, जिससे उनकी संसार से विरक्ति उत्पन्न होती है। युवराज अपनी राज-माता को भक्तिमार्ग का उपदेश देते हैं। श्रीरंगनाथजी के प्रधानाचार्य वृद्ध श्रीराम मिश्र यामुनाचार्य से मिलने आते हैं और इन्हें लिवाकर श्रीरंगपत्तन चले जाते हैं। वहीं यामुना-चार्य को श्रीरंगजी की उपासना का मार्ग बतलाकर और आचार्य पद देकर स्वयं अंतर्हित हो जाते हैं। राजमाता तथा पत्नी

सौदामिनी यामुनाचार्य के विरह में संसार-विरक्त हो वन-वन घूमती श्रीरंग चली आती हैं। यामुनाचार्य उन्हें वन से मंदिर में लिवा लाते हैं और भगवान के सामने स्तुति करते हैं। अंत में भरतवाक्य से नाटक की समाप्ति होती है।

इस नाटक में पात्रों की काफी संख्या है पर मुख्य पात्र अधिक नहीं हैं। यामुनाचार्य ही नायक हैं अतः सौदामिनी नायिका है। कोलाहल जी प्रतिनायक कहलाएँगे। इनके बाद राजा वीरसेन, रानी मंजुभाषिणी, राम मिश्र, सावित्री, मल्लिनाथ आदि विशिष्ट पात्र हैं, बचे हुए साधारण हैं। चरित्रों के चित्रण में हरि जी ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। यामुनाचार्य का बाल-ब्रह्मचारी रूप में पाठशाला में, शास्त्रार्थ करते हुए राज-सभा में और युवराज होकर राजकार्य में तथा श्रीरंग के प्रधान आचार्य होने पर भी सर्वत्र विनम्र स्वभाव दिखलाया गया है। माता-पिता तथा पत्नी और मित्रों से प्रेम और स्नेह सभी दशा में एक-रस निबाहना अच्छे ढंग से प्रदर्शित हुआ है। इनसे जो एक बार भी परिचित हो गया वह फिर कभी इनके विरुद्ध नहीं हो सका। सौदामिनी का प्रेम भी पतिव्रता पत्नी के अनुरूप सदा बना रहा। संसार-विरक्त पति की भी इच्छा उसके लिए सर्वमान्य रही। राजा तथा रानी का पुत्र-स्नेह भी एक-सा अंत तक बना रहा। मल्लिनाथ नरघाती होने भी [illegible] है और [illegible] के पेटू ब्राह्मण विदूषक का पद पूरा करता हुआ भी निकृष्ट नहीं है। इसका परिहास अन्य [illegible] के साथ साथ [illegible] रहता है, [illegible] से केवल हँसाने मात्र के लिए [illegible] नहीं ज्ञात होता है। कोलाहल जी का महत्व दिखलाने पर इनके

गिराना अधिक उपदेशमय हुआ है। इस प्रकार देखा जाता है कि चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है।

वस्तुसंगठन भी कहीं से शिथिल नहीं हुआ है और बराबर ध्येय की ओर विकसित होता चला गया है। कथा की शृंखला मिलाने को कई दृश्य रखे गए हैं, जो प्रवेशक आदि के स्थानीय हैं। कथोपकथन पात्रों के अनुकूल है और उनके विचारों तथा स्थितियों के अनुसार है। भाषा, गद्य में शुद्ध खड़ी बोली हिंदी तथा पद्य में ब्रजभाषा है। सरलता की ओर दृष्टि अधिक थी और यही कारण है कि गहन विषय के वार्तालाप में भी भाषा क्लिष्ट नहीं होने पाई है। हरिजी सुकवि हैं और यही कारण है कि जो पद आए हैं, वे सभी अत्यंत सरस तथा मधुर हैं। उदाहरण के लिए देखिए—नीलाचल वन्य प्रांत की शोभा कितनी अनोखी है, कहते हैं—

> निर्जन वन अति सघन घिरी घन पर्वतमाला।
> नभ-चुंबी चहुँ शृंगकोट कंगूर बिसाला॥
> कलकल निर्झर झरत सिमटि नद होत सुहावन।
> कूजत करत कलोल विहँग जहँ तहँ मन भावन॥

इस प्राकृतिक दृश्य का भक्त-हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता है, सो सुनिए—

> ऐसो कछु मन होय बैठि इत हरि-गुन गाऊँ।
> राजपाट सब छोंडि सहज श्रीपति-पद ध्याऊँ॥

जब्बलपुर के राजा गोकुलदास के पौत्र प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता सेठ गोविंददासजी हिंदी के प्रेमी, साहित्यमर्मज्ञ तथा कुशल साहित्यकार हैं। आपको देशसेवा के उपलक्ष में कई बार

जेलखाने की हवा खानी पड़ी है और उस एकांतवास का समय आपने साहित्य-रचना ही में लगा दिया है।

गोविंददास इन्होंने प्रायः बारह नाटक लिखे हैं, जिनमें चार कर्तव्य, हर्ष, प्रकाश तथा स्पर्धा प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम तीन की भूमिका के रूप में आपने नाट्यकला पर एक निबंध लिखा है, जो नाट्यकला-मीमांसा नाम से अलग पुस्तकाकार भी छपा है। इसमें प्राचीन तथा वर्तमान और पाश्चात्य तथा एतद्देशीय नाट्यकला पर संक्षेप में विचार किया गया है। इस पुस्तिका की भूमिका से ज्ञात होता है कि आपने 'विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में प्रकाशित नाटक तथा नाट्य-कला विषयक साहित्य के अतिरिक्त पाश्चात्य देशों के फ्रांस, इटली, इंगलैंड, ग्रीस, रोम, जर्मनी आदि के श्रेष्ठ नाटककारों के नाट्यकला पर विभिन्न मतों का अनुशीलन' किया है अतः आपके नाटकों से हिंदी साहित्य को विशेष आशा है।

नाटककार के लेखानुसार सन् १९३० की १६ जनवरी से २१ जनवरी तक 'कर्तव्य' और २५ जून से ४ जुलाई सन् १९३० ई० तक दस दिनों में 'प्रकाश' समाप्त हुआ था। 'हर्ष' प्रायः इसी समय लिखा गया था। ये तीनों नाटक उक्त भूमिका सहित एकत्र एक साथ प्रकाशित हुए थे। प्रथम पौराणिक द्वितीय 'सोशो-पोलिटिकल' (समाज-राजनीति युक्त) और तृतीय ऐतिहासिक है। आपने अपने नाटकों के बाह्यरूप में कुछ परिवर्तन किया है। प्रत्येक दृश्य के आरंभ में स्थान का उल्लेख करने के बाद समय का भी उल्लेख है और उसके बाद कहीं-कहीं दो दो पृष्ठों में कमरे, पात्र आदि का रंग रूप, वस्तु व्यवस्था आदि का विवरण दिया है। बीच-बीच

में भी इसी प्रकार के वर्णनात्मक अंश बहुत से दिए गए हैं। इनकी स्यात् आपने विशेष आवश्यकता समझी हो पर हैं व्यर्थ ही से।

'कर्तव्य' दो भाग मे विभक्त है, प्रथम में श्री रामचंद्र का तथा द्वितीय मे श्री कृष्णचंद्र का चरित्र वर्णित है। वनगमन से लेकर समग्र अयोध्यावासियों सहित श्रीराम के स्वर्गारोहण तक का कुल वृत्त पूर्वार्द्ध में आ गया है और इसमें पॉच अंक तथा २५ दृश्य हैं। प्रथम मे वनवास, द्वितीय में सीताहरण और वालि-वध, तृतीय में लंका-विजय, चतुर्थ में अपवाद के कारण सीता-त्याग तथा शंबूक-वध और पंचम में कुश-लव-मिलन, सीता, रामचंद्र आदि का अंत दिखलाया है। इतना सब व्यापार अत्यंत सुशृंखलित पर संक्षिप्त रूप मे वर्णित है, कथोपकथन भी उपयुक्त हुआ है और चरित्र-चित्रण भी अच्छा ही कहा जायगा। रसों में प्रधान वीर है पर कारुण्य तथा शृंगार का भी कुछ पुट है। उत्तरार्द्ध मे पॉच अंक तथा २३ दृश्य हैं। प्रथम मे कर्तव्य के लिए व्रज छोड़कर कृष्ण का मथुरा आना, द्वितीय में उद्धव का व्रज आकर लौटना तथा कृष्ण का मथुरा से द्वारिका जाना, तृतीय में रुक्मिणी-परिणय, सुभद्रा-हरण और भौमासुर की वंदिनी बालाओं से विवाह, चतुर्थ मे महाभारत युद्ध की समाप्ति की सूचना तथा पंचम मे राधा-कृष्ण और यादवों का अंत दिखलाया है।। कृष्णचरित्र मे अधिक व्यापार है और इस छोटे से रूपक मे यत्र-तत्र के दृश्य लाकर वस्तु-संगठन का प्रयास किया गया है पर प्रयास बिलकुल असफल रहा है। कथोपकथन मे दम नहीं है और चरित्र-चित्रण नहीं सा है। ये दोनों रूपक अलौकिक चरित्रों को लौकिक रूप देने के विचार ही से लिखे गये हैं पर इनमे नाटककार सफल नहीं हो सका है।

प्रकाश नाटक काफी बड़ा है। इसके पढ़ने से पहिले यही ज्ञात होता है कि किसी उपन्यास को नाटक का रूप दे दिया गया है। वर्णनात्मक अंश कोष्ठकों में बंद कर दिए गए हैं और कथोपकथन अलग कर प्रकरणों को दृश्यों में परिवर्तित कर दिया गया है। कथावस्तु इस प्रकार है—राजा अजयसिंह को दो रानियाँ थीं। एक को गर्भवती देखकर वह उसे किसी शंका के कारण निकाल देता है। इस घटना के प्रायः बीस वर्ष बाद नाटक का आरंभ होता है। राजा साहब गवर्नर को पार्टी देते हैं, जिसमें अमीरों के लिए अलग रक्षित स्थान था। इसीमें नाटक का प्रधान पात्र प्रकाशचंद्र आता है और यह भेद देख कर पार्टी में व्याख्यान देता है, जिससे साधारण कोटिवाले उस पार्टी से असहयोग कर चल देते हैं। भगवानदास और लक्ष्मी पुरानी चाल के धनी दंपति हैं, जिनके पुत्र दामोदरदास और पुत्री मनोरमा हैं तथा पुत्रवधू रुक्मिणी है। ये तीनों नव्य प्रकाश के सुशिक्षित जीव हैं। दामोदरदास माता-पिता को नई सभ्यता सिखलाते हैं, पर बूढ़े तोते राम राम। अजयसिंह भगवानदास के ऋणी हैं। रुक्मिणी अजयसिंह की रानी कल्याणी से मिलने जाती है और अनर्गल क्रोध प्रकाश कर लौटती है। दामोदरदास को उभाड़कर उसके द्वारा भगवानदास को बाध्य करती है कि अजयसिंह से क्षमापत्र ले आवे। ऋण न दे सकने के कारण वह क्षमापत्र लिख देते हैं। नेस्फील्ड एक ईसाई बैरिस्टर है, जो अजयसिंह को धोखा देकर खूब रुपए वसूल करता है और उसकी पुत्री रोज़ा तथा दामोदरदास में प्रेम-पत्र-व्यवहार चलता है। एक दिन रुक्मिणी यह देख पाती है और पति से क्रुद्ध हो जाती है। इधर प्रकाशचंद्र व्याख्यान

पर व्याख्यान देता है, दामोदरदास के स्वार्थपूर्ण प्रस्तावों का विरोध करता है और जनता में इस कारण उसका बहुत मान हो जाता है। मनोरमा प्रकाशचंद्र का पक्ष लेती है और अंत में उस पर उसका प्रेम हो जाता है। प्रकाश की माता तारा का पुत्र पर आदर्श स्नेह है और यही अजयसिंह की त्यक्ता पत्नी इंदु है तथा प्रकाश उन्हीं का पुत्र है। इंदु यह वृत्त कल्याणी से कहकर कहीं चल देती है। दामोदरदास के वाध्य करने पर अजयसिंह प्रकाश के विरुद्ध दरख्वास्त देकर उसे गिरफ्तार कराते हैं और उसी समय उन्हें प्रकाश के स्वपुत्र होने की सूचना कल्याणी से मिलती है। मनोरमा भी आकर उसपर अपना प्रेम प्रकट करती है तथा नाटक प्रकाश के पकड़े जाने पर समाप्त होता है।

वस्तु का निर्माण अच्छा हुआ है, कहीं विशृंखलित नहीं हुआ है। कई पात्र तथा पात्रियों का चरित्र-चित्रण भी सुंदर हुआ है। कथोपकथन में वर्तनान राजनीति पर बहुत कुछ कहा गया है और भाषा भी सुमार्जित होते हुए शिक्षित वर्ग में प्रचलित अँग्रेजी शब्दों से संयुक्त है। पद्य का प्रायः नाम भी नहीं है। रस में शृंगार तथा वीर का समावेश है। इस नाटक के आरंभ तथा अंत में उपक्रम और उपसंहार छोटे-छोटे दृश्यों मे दिए गए हैं। उपक्रम में एक वृद्ध की चीनी वर्तनों की दूकान है, जिसमे साँड़ घुसता है और वह रक्षा के लिए चिल्लाता है तथा उपसंहार में वही दूकान है और वर्तनों को नष्ट करने पर साँड़ पकड़ा जाता है। ज्ञात होता है कि प्रधान पात्र प्रकाश ही की साँड से तुलना की गई है। यह नाट्यकला मे एक नई उपज है।

सेठ जी के 'हर्ष' का ऐतिहासिक वृत्त वहाँ से आरंभ होता है,

जहाँ पर प्रसादजी के राज्यश्री नाटक के प्रथम संस्करण की समाप्ति है। राज्यवर्द्धन के मारे जाने पर हर्षवर्द्धन राज्यगद्दी पर बैठना पहिले नहीं स्वीकार करता पर बाद को कर्तव्य समझकर स्वीकार करता है। सेनापति भंडि को शशांक पर चढ़ाई करने भेजकर स्वयं राज्यश्री को खोजने निकलता है। चितारोहण को तैयार राज्यश्री को विंध्य पर्वत में पाकर उसे लिवा लाता है। इधर शशांक हर्ष की अधीनता स्वीकार कर लेता है। हर्ष राज्यश्री को कन्नौज की राजगद्दी पर बैठाता है और स्थाण्वीश्वर राज्य को उसके अधीन कर स्वयं मांडलिक बनता है। ये भाई-बहिन साम्राज्य स्थापित करते हैं, जिसमें समग्र उत्तरापथ सम्मिलित होता है। हर्ष का बाल्य सहचर परम मित्र माधव गुप्त सभी कार्य में उसकी सहायता करता है पर उसका पुत्र आदित्यसेन उसके विरुद्ध है। वह वर्द्धन-राजवंश को हटाकर गुप्त-साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखता है और पिता से बिगड़कर शशांक के पास जाता है। दक्षिण-सम्राट् पुलिकेशिन से हर्ष के पराजित होने का समाचार सुनकर शशांक प्रायः बीस पचीस वर्ष तक अधीन रहने पर स्वतंत्र होने का अवसर पाता है। इसी समय चीनी यात्री सुएनच्वांग भारत आता है और हर्ष से मिलता है। हर्ष प्रयाग में यज्ञ का प्रबंध करता है जिसमें राजकोष में संचित सर्वस्व समान दान करने की योजना थी। पर प्रति पाँचवें वर्ष होना निश्चित कर दिया गया था। इसी अवसर पर शशांक तथा आदित्यसेन ने हर्ष को मारने का षड्यंत्र रचा पर माधवगुप्त तथा भंडि ठीक अवसर पर षड्यंत्रकारियों को पकड़ लेते हैं और नाटक समाप्त होता है।

कथावस्तु सुगठित है और व्यापार-शृंखला भी कहीं अन्व-व्यस्त नहीं है। कथोपकथन सरल सुगम भाषा में होते हुए भी पात्रों के उपयुक्त ही है। पात्रों के भाव, विचार आदि सुस्पष्ट हैं। चरित्र-चित्रण तीन चार पात्र-पात्रियों के अच्छे हुए हैं। वीर-रस ही मुख्य रस है। प्रसादजी के नाटकों के समान ही तत्कालीन इतिहास के अनुरूप ही विवरण दिए गए हैं पर उतनी गंभीरता नहीं लादी गई है। नाटक सिनेमा की आवश्यकताओं के अनुसार लिखा गया ज्ञात होता है।

उदयशंकर

पं० उदयशंकर भट्ट पंजाब के निवासी हैं। आपने तक्षशिला काव्य लिखा है तथा कई अन्य ग्रंथों का सटीक संपादन भी किया है। आपने इधर दो पौराणिक नाटक लिखे हैं, मत्स्यगंधा और सगर-विजय। प्रथम छोटी-सी नाटिका है, जिसमें मत्स्यगंधा का पराशर ऋषि से समागम और अमर यौवन के वरदान की प्राप्ति होती है। जब वह विधवा होती है तब चंचल यौवनकाल के वरदान को अभिशाप रूप में देखती है। सगर-विजय में अयोध्यानरेश बाहु अत्याचारी दुर्दम द्वारा परास्त हो वन में भटकते मृत्यु को प्राप्त होता है। उसका पुत्र सगर राज्योद्धार को ध्येय बनाकर आगे बढ़ता है और विमाता के षड्यंत्र से बचता हुआ अपना ध्येय पूरा करता है। इसमें वशिष्ठ जी का ब्रह्मतेज ही उसका प्रधान सहायक है और वह दुर्दम को ससैन्य परास्त कर बंदी कर लेता है। दोनों ही में वस्तु-संगठन शिथिल है, स्वगत-योजना की अति हो गई है और कथोपकथन में लंबे-लंबे भाषण अस्वाभाविक हो उठे हैं। भाषा शुद्ध हिंदी है पर कहीं-कहीं अनवसर पर फारसी

अरबी के शब्द रख दिए गए हैं।

इसके पहिले आपने दो ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं—दाहर अथवा सिंध पतन और विक्रमादित्य। प्रथम सन् १९३३ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। बगदाद के सुलतान या खलीफा ने आठवीं शताब्दि मे सिंध पर चढ़ाई की और उस पर अधिकार कर लिया। इसी घटना को लेकर यह नाटक लिखा गया है। वस्तुसंगठन तथा चरित्र-चित्रण साधारणतः अच्छा हुआ है और वीर रस की मात्रा भी अच्छी दी गई है। घटनाएँ इतिहास के प्रायः अनुकूल ही रखी गई हैं। आपने इसे वियोगांत नाटक कहा है पर यह दुखांत कहा जा सकता है। संयोग और वियोग शृंगारिक है। विक्रमादित्य साधारण रचना है।

प्रोफेसर सत्येंद्र एम० ए० ने 'गुप्तजी की कला' तथा 'साहित्य की झाँकी' नामक दो आलोचना-ग्रंथ लिखने के अनंतर मुक्ति-यज्ञ नामक नाटक लिखा, जो सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ है। यह नाटक बुंदेलखंड की स्वतंत्रता के विषय को लेकर लिखा गया है। यह

सत्येंद्र

ऐतिहासिक नाटक है पर इतिहास-विरोधी भी अनेक बातें आ गई हैं। उदाहरण के लिए केवल एक घटना ले लीजिए। हीरा देवी ने चंपतराय के सामने जब विषपूरित भोजन की थाल रखा था तब उसे उनके भाई भीमसिंह ने [illegible] अपनी थाल से बदल लिया था और उसे खाकर प्राण त्याग दिया था। उक्त घटना के तेरह वर्ष बाद पहाड़सिंह की मृत्यु हुई थी। नाटक में पहाड़सिंह की मृत्यु उसी समय दिखा दी गई है। थाल बदलने का कारण भी बहुत [illegible] गया है [illegible]

पहाड़सिंह चंपत राय के पितृव्य थे और उस समय महेवा से इनका राज्य अधिक ऐश्वर्यशाली था, ऐसी अवस्था में क्या उनके सामने पीतल की तथा चंपतराय के सामने सोने की थाल थी, जो बदल लेने से प्रतिज्ञा पूरी हो गई। राजाओं और बादशाहों की मर्यादाओं का भी विचार नहीं रखा गया है। कंचुकीराय तथा छत्रसाल का इस प्रकार बिना किसी बाधा के रोशनआरा तथा औरंगजेब के शयन-कक्षों मे पहुँच जाना संभव नहीं था। छत्रसाल से वीर पुरुष का महाराज जयसिंह से अकारण, पिता-तुल्य मानते हुए, यह कहना कि 'आप लोगों की तरह दुम न हिलाएँगे' आप ही से प्रोफेसर को शोभा देता है। इसके सिवा नाटक भर मे पुनः जयसिंह के दर्शन नहीं होते; इससे ज्ञात होता है कि आपने ऐसे ही सुंदर कथन के लिए यह दृश्य जोड़ दिया है। यह सब होते भी नाटक अच्छा है और आपसे और भी अच्छे नाटक हिंदी साहित्य को मिलने की आशा है।

डा० मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, पी-एच डी० संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं और सरकारी अध्यापन-विभाग में उच्च-पद पर हैं।

मंगलदेव

आपका संस्कृत तथा अँग्रेजी साहित्य का अनुशीलन बहुत बढ़ा-चढ़ा है। आपने इधर ही जर्मनी के सुप्रसिद्ध नाटककार लेसिंग के मिना फॉ वर्नहाल्म का मिना नाम से सरल हिंदी मे अच्छा अनुवाद किया है। परंतु भाषा परिमार्जित नहीं है और कहीं-कहीं ऐसा ज्ञात होता है कि आप बाबू-इंगलिश के वजन पर 'अँग्रेजी'-हिंदी लिख रहे हैं।

त्रिपाठीजी सुकवि हैं और प्राचीन साहित्य तथा ग्राम्य-कविता

के उद्धार में भी आप निरंतर प्रयास करते रहे हैं। आपके प्रबंध-काव्य 'पथिक' का हिंदी-साहित्य-प्रेमियों ने खूब स्वागत किया था। स्फुट कविता भी आपने काफी और अच्छी की रामनरेश त्रिपाठी है। आपका प्रथम नाटक 'जयंत' तीन अंकों में लिखा गया है। गरीबों पर अमीरों के अत्याचार करने का कल्पित चित्र खींचा गया है। यह आदर्शवाद लिए हुए है और दुखांत नहीं है। 'मैं देखता हूँ, नाटक-रचना की ओर मेरी रुचि बढ़ती ही जाती है।' इस रुचि-वार्द्धक्य से शीघ्र ही दूसरा नाटक 'प्रेमलोक' तैयार होकर सन् १९३४ ई० के आरंभ मे प्रकाशित हो गया। इसमें पाँच अंक और उंतीस दृश्य हैं। पहिला और अंतिम दृश्य चंद्रलोक का है और बाकी सब इहलोक के हैं। यह संसार दुःखमय है और प्रेम की खोज मे चंद्रलोक से आई हुई किरण तथा तारा यहाँ के वैसे ही अनुभवो को संचित कर वहीं लौट जाती हैं। भाषा दोनों नाटकों की परिमार्जित है और नाटक भी अच्छे हैं। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण मे त्रिपाठी-जी ने अच्छा प्रयास किया है और आशा है कि भविष्य मे आपसे उच्चकोटि के भी नाटक मिलेंगे।

आप प्रायः एक दर्जन कहानी-संग्रहों तथा उपन्यासों की रचना कर चुके हैं। आपके दो नाटक देखने में आए—अमर राठौर तथा उत्सर्ग। ये दोनों ऐति-चतुरसेन शास्त्री हासिक हैं। प्रथम बड़ा नाटक है और इसमे आठ, पाँच तथा बारह दृश्यों के तीन अंक हैं। जोधपुर-नरेश गजसिंह के बड़े पुत्र अमरसिंह पिता की आज्ञा पर राज्य छोड़कर दिल्ली चले आए और शाहजहाँ से नागौर

जागीर में पाकर वहीं रहने लगे। बादशाह ने इनके कार्य से रुष्ट होकर इनपर जुर्माना लगा दिया और दरबार मे सलाबत खाँ के जुर्माना माँगने पर इन्होंने उसे मार डाला। इन्होंने बादशाह पर भी खड्ग चलाया पर वह खंभे से टकराकर रह गया। यह लड़ते हुए बुर्ज पर से घोड़े सहित कूदकर बच गए पर अपने ही साले अर्जुन गौड़ द्वारा धोखे से मारे गए। आज भी दिल्ली के किले मे खंभे पर यह निशान दिखलाया जाता है तथा जहाँ यह कूदे थे वहाँ पत्थर का घुड़सवार अब तक स्मारक रूप में बना हुआ है। नाटक साधारणतः अच्छा बना है, वस्तु-संगठन भी शिथिल नहीं है और चरित्र-चित्रण में भी काफी प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक नाटक लिखने मे तत्कालीन इतिहास का कुछ मनन अवश्य कर लेना चाहिए, जिसमें कोई ऐसी भूल न हो जाय जो इतिहास का साधारण ज्ञान रखनेवाले को भी खटके। जैसे इस नाटक मे अर्जुन गौड़ को प्राणदंड मिलना दिखलाया गया है पर वह इस घटना के तेरह वर्ष बाद कई बार पुरस्कृत होकर धर्मत के युद्ध मे मारा गया था। अच्छा होता कि नाटककार उसे निर्वासन का दंड दिला देते क्योंकि मुगल बादशाह प्रायः क्रुद्ध होकर पद तथा मंसब छीन लेते थे और पुनः कृपाकर दे देते थे।

उत्सर्ग मे चित्तौड़ के तृतीय शाका की घटना को लेकर वस्तु का निर्माण हुआ है। यह छोटा सा नाटक है, जिसमे तीन तीन दृश्यों के चार अंक हैं। नाटककार ने इतिहास की घटनावली मे बहुत कुछ हेरफेर किया है और उसे इसकी स्वतंत्रता भी है पर वह उस घटना की महत्ता तक उठ नहीं पाया है। महारानी अर्थात् राव जयमल राठौर की पत्नी का दो दो बार अकबर पर

चोट करते हुए कैद होने और फिर उसकी उदारता से छोड़े जाने की कल्पना कथावस्तु की उन्नायक नहीं हो सकी है। रानी तथा सिपाही की बातचीत भी भुडंगी है। इस नाटक की भाषा भी निर्जीव सी है। इतिहास की दृष्टि से तो अशुद्धियाँ भरी हुई हैं। इसका एक मुख्य कारण यही ज्ञात होता है कि हिंदी में इतिहास पर काफी साधन सुलभ नहीं है, जिससे नाटककार या उपन्यासकार लाभ उठा सके और अन्य भाषाओं में प्राप्त ग्रंथों को ढूँढकर पढ़ने के लिए उनके पास समयाभाव है। ठीक ठीक घटनाओं को जानकर कोई इतनी गलती कर डाले यह कोई भी किसी प्रकार नहीं कह सकता।

सीताराम

अयोध्यावासी लाला श्रीशिवरत्न के पुत्र सीताराम बी० ए० सरकारी नौकरी के सिलसिले में अनेक स्थानों में घूमते हुए अंत में प्रयाग में आकर बस गए। इनका जन्म २० जनवरी सन् १८५८ ई० को हुआ था। भारतेंदुजी के काल ही से हिंदी-साहित्य-सेवा इन्होंने आरंभ कर दिया था और अपने अंत समय तक यह इसमें दत्तचित्त रहे। इनकी मृत्यु २ जनवरी सन् १९३७ ई० को हुई। इन्होंने संस्कृत से कई काव्यों का पद्यानुवाद किया और नाटकों के गद्य-पद्यमय अनुवाद किए। अंग्रेजी से भी कई नाटक अनूदित किए। हिंदी कविता का छ भागों में बड़ा संकलन तैयार किया तथा कई गद्य ग्रंथ लिखे। इतिहास के भी यह प्रेमी थे। इन्होंने कोई मौलिक नाटक नहीं लिखा है पर अनुवाद अच्छे किए हैं। अनुवाद का पद्यभाग तो अच्छा नहीं बन पड़ा है पर गद्य भाग सीधी व्यावहारिक सरल भाषा में अच्छा हुआ है। संस्कृत के

जटिल लच्छेदार प्रणाली से यह बहुत बचकर चले हैं इसपर भी उसके भाव को बहुत कुछ स्पष्ट किया है, जो सराहनीय है। भाषा की सदोषता को पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने इनकी कुछ रचनाओं की आलोचना में दिखलाया है।

सं० १६३० में नागानंद का अनुवाद हुआ। इसके अनंतर क्रमशः महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालती-माधव का अनुवाद सं० १६४१ तक प्रकाशित हुए। इनके सिवा मृच्छकटिक तथा मालविकाग्निमित्र के अनुवाद पूर्ण हुए। शेक्सपियर के कई नाटकों के भी अनुवाद किए हैं। सन् १६२६ में मैकवेथ प्रथम वार प्रकाशित हुआ था।

आपका जन्म सं० १६२३ मे गाजीपुर जिले मे हुआ था। ग्राम में साधारण शिक्षा प्राप्तकर पटना नार्मल स्कूल में भर्ती हुए।

गोपालराम

वलिया में जब भारतेंदुजी व्याख्यान देने गए थे और उनके कई नाटक खेले गए थे तब यह भी उपस्थित थे। सन् १८८६ ई० में मिडिल स्कूल रोहतासगढ़ के प्रधानाध्यापक हुए। दूसरे ही वर्ष उसे छोड़कर कई पत्रों के सहायक संपादक रहे। कालाकांकर में रहते समय इन्होंने बभ्रुवाहन, विद्याविनोद तथा देशदशा तीन नाटक लिखे थे। इसके अनंतर सन् १८६२ ई० मे बंबई वेंकटेश्वर प्रेस मे गए। बंबई से यह माडला गए और वहाँ से मेरठ होते पुनः बंबई लौट गए। सन् १६०१ मे इन्होंने 'जासूस' मासिक-पत्र निकाला, जिसमे अबतक दो सौ जासूसी उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। सं० १६७० मे आपने बाबू राजकृष्णराय के बँगला नाटक के आधार पर बनबीर नाटक लिखा। इसमे मेवाड़ के राणा बनबीर-

सिंह से उदयसिंह की रक्षा करने में वीर धात्री पन्ना ने अपने प्रिय एकमात्र पुत्र का बलिदान दे दिया था। नाटक अच्छा बन पड़ा है। आप अबतक साहित्य-सेवा में इसी प्रकार संलग्न रहते हैं।

आपका जन्म माघ वदी २ सं० १९४६ बुधवार को काशी में हुआ था और आपके पिता लाला परमेसरीदास, जो कपड़े का व्यापार करते थे, आपको दस वर्ष का छोड़कर

रामचंद्र वर्मा

स्वर्गगामी हो गए। भारतजीवन प्रेस के स्वामी बाबू रामकृष्ण वर्मा के सत्संग से, जो आपके पिता के मित्र थे, इन्हें हिंदी से प्रेम हो गया और यह साहित्य-सेवा में संलग्न हो गए। सन् १९०४–५ तक भारतजीवन पत्र के, सन् १९०७–८ तक नागपुर के हिंदी केसरी के और सन् १९११ में बाँकीपुर के बिहारबंधु के संपादक रहे। इसके अनंतर नागरी-प्रचारिणी सभा के कोषविभाग में बहुत दिनों तक हिंदी शब्द-सागर के एक सहकारी संपादक रहे। सन् १९१५–८ तक सभा की पत्रिका का संपादन कार्य भी किया था। सभा के विभाग-मंत्री तथा प्रधानमंत्री भी कई वर्षों तक रहे। आप सिद्धहस्त अनुवादक हैं और आपकी भाषा टकसाली मानी जाती है। आपने अबतक अंग्रेजी बंगला मराठी गुजराती तथा उर्दू से सौ के ऊपर अनुवाद किए हैं जिनमें इतिहास उपन्यास, नाटक आदि अनेक विषय के ग्रंथ हैं।

आर्क का हिंदी में अनुवाद किया है। रवि बाबू की चांडालिनी नामक एकांकी नाटक का अनुवाद हंस में प्रकाशित हुआ है। इन नाटकों में मूल के भाव, विचार, विनोद आदि सभी को हिंदी में बड़ी सफलता से व्यक्त किया गया है और मूल भाषा के मुहावरों तथा अन्य विशेषताओं को अत्यंत सुंदर हिंदी रूप दिया गया है, जिससे वे अपरिचित से नहीं मालूम होते और साथ ही दोनों भाषाओं पर अनुवादक का पूरा अधिकार बतलाते हैं।

परमहंस श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानंद विषयक एक मौलिक नाटक 'परमहंस' नाम से सिनेमा के लिए अभी हाल ही में लिखा है।

रूपनारायण पांडे

आपका जन्म सं० १९४१ में हुआ था। आप सुकवि, योग्य पत्रकार तथा सिद्धहस्त अनुवादक हैं। आपने अनेक उपन्यास, श्रीमद्भागवत आदि के अनुवादों के सिवा बहुत से नाटकों का भी अनुवाद किया है। 'आहुति अथवा जयपाल' किसी अज्ञात नाटककार की बँगला कृति का अनुवाद है। 'पतिव्रता' गिरीशबाबू के एक नाटक का अनुवाद है। खानजहाँ क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के नाटक का अनुवाद है। अचलायतन रविबाबू के एक नाटक का अनुवाद है। द्विजेंद्रबाबू के कई नाटक आपके द्वारा अनूदित हुए हैं, जिनमें उस पार, दुर्गादास, ताराबाई आदि मुख्य हैं। इनके सिवा कृष्णकुमारी, बुद्धचरित आदि के भी आपही अनुवादक हैं। प्रायश्चित्त प्रहसन, मूर्खमंडली आदि की भी आपने रचना की है। पांडेयजी ने अनुवाद करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है और प्रांजल भाषा लिखने में बहुत कुशल हैं।

प्रथम प्रकरण में भास तथा उनके संस्कृत नाटकों का उल्लेख किया जा चुका है। इनके कुछ नाटकों का अनुवाद भी हिंदी में हुआ है पर अभी अधिकतर अनूदित नहीं हुए हैं। बाबू सत्यजीवन वर्मा एम० ए० ने स्वप्नवासवदत्ता का अनुवाद सन् १९३० ई० में प्रकाशित कराया है। कवि न होने के कारण श्लोकों के भी अनुवाद गद्य ही में हुए हैं पर यत्र-तत्र कविता की गई है। इसमें केवल छ अंक हैं और नाटक छोटा है। भाषा सरल शुद्ध हिंदी है। अनुवाद अच्छा हुआ है। भारतेंदुजी के दौहित्र व्रजजीवनदास ने भी प्रायः इसी समय सं० १९८६ में भास के तीन नाटक पंचरात्रि, मध्यम व्यायोग और प्रतिज्ञा-यौगंधरायण का अनुवाद प्रकाशित कराया है। इनमें गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में अनुवाद हुआ है। दोनों ही खड़ी बोली हिंदी में हैं। इनका विचार भास के कुल नाटकों को अनूदित करने का था पर अब तक अन्य नाटकों के अनुवाद नहीं प्रकाशित हुए हैं। अनुवाद बड़ी योग्यता से किया गया है। मध्यम व्यायोग का एक और अनुवाद सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू काशीप्रसाद जायसवाल की विदुषी पुत्री धर्मशीला बैरिस्टर द्वारा हुआ है, जो प्रकाशित हो चुका है।

भास

पं० सत्यनारायण कविरत्न तथा लाला सीताराम के इनके अनुवादों का उल्लेख हो चुका है इनके सिवा पं० हरिमंगल मिश्र एम० ए० कृत एक अनुवाद सन् १९[illegible] ई० में प्रकाशित हुआ है। भारतेंदुजी के [illegible] बाबू कृष्णचन्द्र ने भी इसका अनुवाद किया था, जो

उत्तररामचरित

सं० १९७३ में समाप्त होकर प्रकाशित हुआ था। आरंभ में ४३ पृष्ठों का एक वक्तव्य है, जिसमें अत्यंत गवेषणापूर्वक भवभूति के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला गया है और उनकी कृति की आलोचना भी बड़ी विद्वत्ता के साथ की गई है। पद्य का अनुवाद पद्य में है और साथ ही अभिनय की सुगमता के लिए पाद-टिप्पणी में मुख्य-मुख्य पद्यों के गान भी दिए गए हैं। अनुवाद अच्छा हुआ है। भाषा विशेष संस्कृत-गर्भित है।

अष्टम प्रकरण

(उपसंहार)

जीवन में यथाशक्ति अधिक से अधिक आनंद तथा सुख पाना ही मनुष्य का ध्येय आदिकाल से रहा है और अंत तक रहेगा। धन-प्राप्ति तथा यश-प्राप्ति भी मानव-समाज के ध्येय रहे हैं, पर वे भी सुख ही के साधन मात्र रूप में। साहित्य, संगीत तथा कला सभी इसी सत्य का समर्थन करते हैं और इसी सुख-साधन में उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहने के लिए इनकी उन्नति की ओर मानव-समाज सदा हरएक दशा में दत्तचित्त रहा है। प्रकृति के रहस्य के उद्घाटन में भी वह इसी सुख-साधिका प्रवृत्ति के कारण बड़ी क्षमता से लगा रहता है। प्राचीन-तम काल से अब तक योग्यतम विद्वानों के समान ही कलाकार-गण भी इसी कार्य में यथाशक्ति योग देते आए हैं और उनकी कृतियों से मनोरंजन के साथ साथ उपदेश एवं आदर्श आदि भी मिलते हैं। भारत प्राचीनकाल से मनोरंजन की इन साम-ग्रियों को लोकोत्तर आनंददायक साहित्य को जुटाने में सबसे आगे बढ़ा हुआ है। इन्हीं सामग्रियों में नाट्यकला एक है, जो साहित्य, संगीत तथा कला तीनों के सम्मिश्रण से सर्वश्रेष्ठ हो उठा है।

भारतीय मनोरंजन का साहित्य धर्म की दृढ़ भित्ति पर उठा है और यही कारण है कि वह निम्नतर की ओर बहुत कम जाता है। धर्म की प्रगति तथा मानव-समाज की सभ्यता की वृद्धि के साथ परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन होते चले और उक्त साहित्य में भी तदनुसार परिवर्द्धन तथा परिवर्तन हुए। धर्म का प्रारंभ प्रायः भय के कारण होना ही निश्चित है और इसीसे भूत-प्रेत आदि की पूजा ही का प्राचीनतम सभ्यता में पता लगता है। इन भूत-प्रेतादि को प्रसन्न करने के लिए उनके पूजकगण एकत्र होकर बिना ताल लय के गाते, शोर मचाते तथा नाचते-कूदते थे। इसी को देखकर अन्य लोग आनंद प्राप्त करते थे। भय के साथ-साथ समाज की दृष्टि लाभ की ओर गई और मनुष्येतर जिन जिन वस्तुओं से उन्हें लाभ होता था, उनमें देवताओं का आरोपण कर, वे उनकी पूजा करने का प्रयास करने लगे, जिसमें वे अधिकाधिक लाभ दें। वृक्ष, गाय आदि के सिवा पृथ्वी माता, वायुदेव, जल के वरुणदेव, वर्षा के इंद्रदेव आदि का पूजन आरंभ हुआ। अनेक उत्सव मनाए जाने लगे तथा गायन-वादन ने भी उन्नति की। कथाकाली नृत्य, यक्षगान आदि का भी समारंभ हुआ, जिससे दर्शक-उपासकों का आकर्षण इन उत्सवों की ओर बढ़ा।

क्रमशः इन देवताओं से बड़े एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर की भावना की गई और स्रष्टा, पालक तथा संहारक रूप में उनकी त्रिमूर्ति का ध्यान किया गया। इनके अवतारों के रूप में भारत की महान् आत्माओं की पूजा की जाने लगी और उनके जीवन के आकर्षक अंगों को लेकर रासलीला, रामलीला तथा यात्राएँ

आरंभ हुई, जो आजतक प्रचलित हैं और जिनमें समाज के हरएक कोटि के स्त्री-पुरुष उत्साह से योग देते हैं। इनमें भगवान श्रीरामचंद्र तथा श्रीकृष्णचंद्र ही के चरित्र विशेषतः लिए गए हैं और यही कारण है कि वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत महाकवियों तथा नाटककारों के उपजीव्य कहे गए हैं। यद्यपि इन्हीं लीलाओं से उन्नति कर नाटक या रूपक बने पर वे लीलाएँ भी ज्यों-की-त्यों प्रचलित हैं। जिस प्रकार प्राकृत के संस्कृत होनेपर भी प्राकृत की स्थिति नहीं मिटी, उसी प्रकार ये लीलाएँ भी बनी हैं और बनी रहेंगी।

इन लीलाओं में सजीव मूर्तियाँ या स्वरूप अनेक प्रकार के आकर्षक वेश-भूषा में सुसज्जित होकर रामायण, श्रीमद्भागवत तथा महाभारत के उन विशेष-विशेष अंशों के, जिनकी कि लीला की जा रही है, स्त्री-पुरुषों का रूप धारण करते हैं और उन ग्रंथों में उनकी जो बातचीत लिखी गई है, उसी के आधार पर कुछ निमक-मिर्च लगाकर संवाद कराते हैं। साथ-साथ गायन-वादन भी चलता है। कुछ लीलाओं में एक पट की आड़ में तैयारी होती है और उसी के बाहर माखन-चोरी लीला, राधा-मनावन लीला आदि होती हैं। ये [illegible] लीलाएँ कही जा सकती हैं, जो प्रायः मंदिरों या गृहस्थों के गृहों में होती हैं। पर अधिकतर लीलाएँ मैदानों में होती हैं जिनमें रामायण तथा भागवत के अनेक स्थल पल-पल पर कुछ हटकर [illegible] जाते हैं और इन स्थलों का [illegible] इन्हीं निर्धारित स्थानों में होता है। इन बड़ी लीलाओं के लिए वेश-भूषा आदि सजावट के लिए [illegible] स्थान बने होते हैं। ये लीला कहीं-कहीं [illegible] [illegible] चलती हैं और

समग्र रामायण या भागवत में वर्णित चरित्रों को क्रमशः ... लित रूप से पूरा कर डालती हैं।

मानव-समाज में प्राचीन-काल से ये लीलाएँ स्वच्छंद वातावरण में होती चली आ रही हैं और उनके प्रति जनता का उत्साह धर्म की दृढ़ भित्ति पर स्थित होने ही से बराबर बना रहा और यही कारण है कि वे लीलाएँ अबतक बनी हैं। इनमें देखा जाता है तो नाटकों के मुख्य तीनों तत्व कथावस्तु, कथोपकथन और रस पूर्ण मात्रा में मौजूद है। अभिनेता, पट, वेशभूषा आदि भी हैं और गायन-वादन भी। नेपथ्य-गृह भी है और लीला की भूमि तथा उसके चारों ओर का मैदान बिना छत का असीम विशाल प्रेक्षागृह है। इतना सब साधन सामने रहते हुए आरंभ में कुशल नाटककारों ने इन्हीं सबसे चुन-चुनकर नाटकों के अंग-प्रत्यंगों की रूप-रेखा स्थापित की, उन्हें अनेक प्रकार से सजाते रहे और क्रमशः अंत में पूर्णांग नाटकों की रचना होने लगी। इन नाटकों का कुछ साहित्य एकत्र होनेपर नाट्यशास्त्र भी बन गया। संस्कृत साहित्य में प्राप्त नाटकों में आधे से अधिक का कथावस्तु श्रीकृष्ण तथा रामचंद्र के चरित्रों ही पर निर्मित हुआ है और उक्त मत का समर्थन करता है।

नाटक-रचना तथा उनका प्रदर्शन भारत में सहस्रों वर्ष पहिले से आरंभ होकर प्रायः मुसल्मानी आक्रमण-काल तक बराबर प्रचलित रहा पर उसके बाद वह अस्त-व्यस्त हो गया। खुदाई कामों की नकल होने के कारण इस्लाम धर्म नाटक, चित्र आदि का निषेध करता है, इसलिए इन्हें प्रोत्साहन नहीं मिला और नाटक तो एक प्रकार मिटा ही दिया गया। अवश्य ही

उसके स्थान पर भँड़ैती बढ़ने लगी और मुहम्मदशाह रँगीले के भाँड़ों का तमाशा तरक्की करता हुआ वाजिदअली शाह के दरबार में इंदरसभा के रूप में विकसित हुआ। यही उर्दू का प्रथम नाटक कहा जा सकता है क्योंकि बाद में यह कुछ घटा बढ़ाकर पारसी थिएट्रिकल कंपनियों द्वारा भी खेला गया था। इंदर-सभा की रचना के समय प्रस्तुत उसके पहिले ही भारत में नवागंतुक अंग्रेज जाति यूरोपीय थिएटरों की नींव डाल चुकी थी क्योंकि उसका प्रभुत्व जम चुका था और आनंद के साधन पैदा करना स्वभावसिद्ध था।

प्राचीनकाल के प्रेक्षागृह या अभिनयशालाएँ नष्ट हो चुकी थीं और कई शताब्दि के लंबे मुसल्मानीकाल में किसी प्रकार का प्रोत्साहन न मिलने से वे भारत से. प्रस्तुत उसकी स्मृति भी. मिटसी गई थीं। यूरोपीय जातियाँ जब भारत में आईं और उनमें से एक ने यहाँ अपना प्रभुत्व जमाना आरंभ कर दिया तब मनोरंजन के यूरोपीय अन्य साधनों के साथ थिएटर गृह भी यहाँ खुले। इसका आरंभ पहिले कलकत्ता में और बाद को बबई में शुरू हुआ था। जिन लोगों ने आजकल के मेट्रोप्लाड-लिन आदि कलकत्ता के सिनेमागृह देखे हैं. उन्हें स्वप्न में भी आज से डेढ़ शताब्दि पहिले के उन थिएटर-गृहों की शोभा ध्यान में नहीं आ सकती जब वे मोमबत्तियों. तैल-दीपकों आदि से प्रकाशमान किए जाते थे और पर्दों का कहीं नाम भी नहीं रहता था प्रत्येक दर्शक स्वयं अपने अपने पंखे लेकर जाते थे। सिग-रेट बीड़ी के अभाव में चारों ओर हुक्कों की गड़गड़ाहट की मधुर ध्वनि भी अभिनयशाला को तरंगित करती रहती थी।

कलकत्ता के प्रथम थिएटर का 'द ओल्ड प्लेहाउस' के नाम से पता चलता है, जो स्यात् सन् १७५२ ई० या इसके पहिले से वर्तमान था। सिराजुद्दौला ने जब कलकत्ता पर चढ़ाई की थी उस समय इस नाटकघर पर से अंग्रेजों पर गोले उतारे गए थे। इसके अनंतर 'द कैलकटा ऑर इंगलिश थिएटर' का पता मिलता है, जिसके कारण वर्तमान न्यू चीना बजार पहिले थिएटर स्ट्रीट कहलाता था। एक लाख व्यय कर यह थिएटर बना था। इंगलैंड से स्टेज, सीनरी, झाड़ फानूस आदि सभी सजावट के सामान लाए गए थे और बड़े समारोह के साथ सन् १७७६ ई० में यह खोला गया था। इसमें बड़े लाट वारेनहेस्टिंग्ज़ से लेकर कंपनी के सभी बड़े-छोटे कर्मचारी सम्मिलित थे। सबसे सस्ता टिकट आठ रुपए का मिलता था। इसके साथ एक नाचघर भी था। इसके अनंतर सन् १७८९ ई० में मिस एम्मा रैंगहम या मिसेज ब्रिस्टो ने एक निजी थिएटर खोला, जो चौरंगी में बना था। इसके अनंतर बड़े लाट सर जौन शोर की आज्ञा से सन् १७९५ ई० में 'लेबेडेफ्स इंडियन थिएटर' खुला, जिसमें बँगला भाषा में पहिले पहल 'डिसगाइज' खेल हुआ था। इनका उल्लेख इसी पुस्तक में पहिले किया जा चुका है। इसके अनंतर सन् १८१२ ई० में एथीनियम, सन् १८१३ में चौरंगी थिएटर, प्रायः सन् १८३० ई० में नवीनचंद्र बोस का थिएटर, सन् १८३३ ई० में ओरिएंटल और इसके बाद पाइकपाड़ा राजा का थिएटर खुले। इसके उपरांत तो इन थिएटरों का क्रम बराबर जारी रहा और इनके कारण बँगला नाटकों को बराबर प्रोत्साहन मिलता रहा।

पूर्वोल्लिखित नाटक-घरों के प्रायः काफी दिनों बाद सन्

१८६० ई० में सेठ पेस्टनजी फ्रामजी की 'ओरिजिनल थिएट्रिकल कंपनी' खुली, जो वहाँ के कई पारसी सज्जनों द्वारा व्यापारिक दृष्टि से चलाई गई थी। पेस्टनजी के साथियों में खुरशेदजी, कावसजी खटाऊ, सोहराबजी तथा जहाँगीरजी भी थे, जिन सब ने बाद को अलग अलग कंपनियाँ खोलीं। प्रथम दो ने मिलकर सन् १८७७ ई० में 'विक्टोरिया नाटक कंपनी' दिल्ली में खोली, जिसके टूटने पर कावसजी ने 'एल्फ्रेड थिएट्रिकल कंपनी' खोली पर उनकी मृत्यु पर यह भी चार पाँच वर्ष चलकर बंद हो गई। इसके अनंतर कितनी कंपनियाँ खुलीं और बंद होती गईं। अब सिनेमा घरों का प्रचार सारे भारत में बढ़ता जा रहा है, जिससे थिएटरों का प्रायः अभाव होने लगा है।

कलकत्ता के थिएटर घरों में अंग्रेजी तथा बँगला का और बंबई की कंपनियों में उर्दू का दौरादौर था पर इस प्रांत में कुछ न था। दोनों स्थानों से तथा अन्यत्र से भी कंपनियाँ यहाँ आकर अपनी भाषा में खेल दिखातीं और रुपयों के ढेर उठा ले जाती थीं पर यहाँ वाले ताकते ही रह जाते थे। बीसवीं शताब्दि ईसवी के आरंभ में एक व्याकुलभारत कंपनी खुली, जिसमें हिंदी में भी नाटकों के अभिनय होने लगे परंतु यह दुर्भाग्यवश प्रसिद्धि प्राप्त करने पर भी बंद हो गई। साधारण प्राइवेट मंडलियों द्वारा भी कुछ-न-कुछ हिंदी-नाटकों को प्रोत्साहन अवश्य मिलता रहा। बंबई की पारसी कंपनियों में उर्दू ही प्रमुख भाषा थी पर पंडित नारायणप्रसाद 'बेताब' को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि इन्होंने पहिले पहल हिंदी नाटकों को भी इन कंपनियों में स्थान दिलाया।

पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' दिल्ली-निवासी कश्मीरी ब्राह्म-हैं। इनके पिता का नाम महाराज ढोलाराय था। बेताब जी ग़ालिब के शिष्य हकीम सर्दार मुहम्मद खाँ 'तालिब' के शिष्य हैं और नजीर हुसेन 'सखा' को भी कविता दिखलाते थे। थिएटर-कंपनियों के लिए नाटक लिखना व्यापार बनाकर यह बंबई में रहने लगे और वहीं से शेक्सपीअर पत्र भी निकाला, जिसमें उसी के नाटकों के अनुवाद छपते रहे। यह कुछ दिन चलकर बंद हो गया। उर्दू में कई नाटक लिखने के बाद सन् १९१३ ई० में इनका महाभारत रंगमंच पर प्रथम बार खेला गया, जिसकी कुछ दिनों तक बड़ी धूम रही। इसके अनंतर गोरखधंधा, रामायण, पत्नी-प्रताप, कृष्ण-सुदामा आदि नाटक इन्होंने लिखे, जो सभी अभिनीत होते रहे। भाषा इनकी बेढब खिचड़ी है, जिसमें क्लिष्ट संस्कृत तथा फारसी-अरबी के शब्द साथ साथ इस प्रकार रख दिए गए हैं कि वे दोनों के ज्ञाताओं को कर्णकटु मालूम होते हैं। इनके नाटकों में ओज है तथा आवेशपूर्ण और चलती भाषा के कारण दर्शकों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

बेताब

आगा मुहम्मद 'हश्र' कश्मीरी थे पर इनके परिवार वाले काशी मे आ बसे थे। यह भी न्यू एल्फ्रेड कंपनी के लिए नाटक लिखा करते थे पर उसे छोड़ने पर इन्होंने अपनी शेक्सपिअर थिएट्रिकल कंपनी खोली पर वह भी कुछ दिन बाद बंद हो गई। इसके अनंतर यह कलकत्ता के मदन एंड कंपनी मे जाकर फिल्म में काम करने लगे। इन्होंने दो दर्जन के ऊपर थिएट्रिकल्स लिखे है, जिनमे सात आठ हिंदी

हश्र

इस अंग की अच्छी पुष्टि होती। लाला कुँवर सेन एम० ए० ने ब्रह्मांड नाटक लिखा है, जिसमें आकाशचारी नक्षत्र पात्र बनाए गए हैं। मुंशी जानेश्वर प्रसाद 'मायल' दिल्ली के निवासी हैं और इन्होंने व्याकुल-भारत कंपनी के लिए दो नाटक लिखे थे—नूरे-हिंद या चंद्रगुप्त तथा तेगे-सितम। काशी के बाबू हरिकृष्ण 'जौहर', पं० ज्वालाराम नागर 'विलक्षण', बाबू हरिदास माणिक तथा बाबू जयरामदास ने भी बहुत से थिएट्रिकल्स लिखे हैं, जिनमें कुछ के अभिनय भी हो चुके हैं। पं० तुलसीदत्त 'शैदा' ने भी नल-दमयंती आदि कई नाटक लिखे हैं, जो मदन थिएटर्स में खेले जा चुके हैं।

पं० राधेश्यामजी ने प्रायः एक दर्जन नाटक लिख डाले हैं, जो सभी अभिनीत हो चुके हैं। इनके वीर अभिमन्यु, मशरिकी हूर, रुक्मिणी-मंगल, ऊषा-अनिरुद्ध, द्रौपदी-स्वयंवर, कृष्णावतार आदि विशेष प्रसिद्ध हुए। इन नाटक-लेखकों के सिवा ईश्वरीप्रसाद आदि और भी लेखकों ने इसी प्रकार के थिएट्रिकल्स लिखे हैं पर सभी के लिए इस ग्रंथ में स्थानाभाव है। अब सवाक् पटों के प्रचार से थिएट्रिकल्स लिखना कम हो चला है और उसके तथा रेडियो के लिए विशिष्ट प्रकार के नाटक लिखने की आवश्यकता आ पड़ी है। ऐसे नाटकों पर भविष्य में कुछ लिखा जा सकेगा।

प्राचीनता तथा नवीनता

यह कथन कि जो कुछ बीत चुका है, वह सब वर्तमान तथा भविष्य के लिये अनावश्यक है, कोरा दंभ मात्र है और तथ्यहीन होते मूर्खता पूर्ण है। प्राचीन इतिहासादि से कथावस्तु लेकर नाटक-निर्माण करने को कुछ लोग 'गडे मुर्दे उखाड़ना' कह डालते हैं, पर यह केवल उनकी अयोग्यता का निदर्शक है क्योंकि उनका

मस्तिष्क प्रत्यक्ष को छोड़कर जो कुछ हो चुका है या होनेवाला है उसे ग्रहण करने मे अक्षम है। वर्तमान तथा भविष्य सदा भूत-काल की दृढ़ नींव पर ही उठा है और उठेगा। ऐसी अवस्था मे प्राचीन-काल की महान आत्माओं के चरित्र, अमर घटनाओं के वर्णन आदि सदा नाटकीय कथावस्तु के साधन रहे हैं और रहेंगे। ये नाटक पौराणिक या ऐतिहासिक कहे जाते हैं पर इनमे तत्कालीन समाज तथा राजनीति का भी नाटककार की योग्यता के अनुसार अच्छा दिग्दर्शन रहता है। इनके सिवा जो नाटक सामाजिक या राजनैतिक कहलाते हैं, उनका संबंध केवल वर्तमान से रहता है और यदि इनसे भविष्य का भी कुछ आभास मिले तो वह नाटककार की दूरदर्शिता तथा विशिष्ट अनुभव का द्योतक है।

इन विचारों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि नाटकों के कोई अंगप्रत्यंग केवल इसी कारण त्याज्य नहीं हो सकते क्योंकि उनका प्राचीन काल में प्रयोग होता था और इस प्रकार की नीति कभी भी न्यायसंगत नहीं हो सकती। यदि कोई अंग, विशेष वातावरण या किसी अन्य सुधरे हुए रूप में आ जाने के कारण उपयोगी न रह गया हो तभी उसे छोड़ देना बुद्धिमत्ता है। कोई भी यह नहीं कह [illegible] है कि [illegible] उपदेश करने से

वस्तु हटाकर उसे स्थान दिया जा रहा हो। प्रथम अवस्था में केवल नवीन वस्तु की आवश्यकता, उपादेयता आदि ही का विचार होगा पर दूसरी में दोनों के महत्व की तुलना कर देखना होगा कि वे दोनों संग्रहणीय हैं अथवा एक दूसरे को 'स्थानांतरित' कर सकेगा। ये विचार भी निष्पक्ष होने चाहिएँ—न प्राचीनता के लिए प्रेम हो और न नवीनता के लिए उत्साह। प्रायः देखा जाता है कि किसी-न-किसी प्रकार कुछ-न-कुछ नवीनता लाने के लिए लोग ऐसा वेढंगा प्रयास कर वैठते हैं, जो हास्यास्पद हो जाता है। ऐसी अवस्था में समय की आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कुछ समझ कर ही साहित्यिक कृतियों में हेरफेर करना उचित है। प्राचीनता तथा नवीनता का संघर्ष सदा रहा है और रहेगा तथा इससे बचना श्रेयस्कर भी नहीं है पर विना समझे कुछ कर वैठना भी अनुचित है।

भाषा

नाटककार यदि अपनी रचना केवल उच्च कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में रखने के लिए तैयार करता हो या केवल भाषा तथा साहित्य के प्रकांड विद्वानों की प्रशंसा प्राप्ति के लिए निर्मित करता हो तो वह यथाशक्ति गंभीर-तम भावों से भाराक्रांत तथा क्लिष्ट से क्लिष्ट भाषा में उसे लिख सकता है पर तव वे पठनीय तथा अभिनेय नहीं रह जायँगे, जो नाटकों का ध्येय है। नाटक मनोरंजन का साहित्य है और इसकी भाषा वही होनी चाहिए जो नाटककार के भावों, विचारों तथा घटनावली को शीघ्र से शीघ्र पाठकों तथा दर्शकों को हृदयगम करा दे और साथ ही उसमें वह मनोरंजक प्रवाह हो, वह चपलता तथा सजीवता हो जो कानों

अनुक्रमणिका

कवि-नामावली